ISSN 2229-6328

भाग - सप्तत्रिंश, प्रथम-द्वितीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका

विश्वकल्याणकारिणी वैदिक जीवन-पद्धति

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः सप्तत्रिंश, प्रथम-द्वितीय खण्ड (वि. सं. २०७८-२०७९)

विश्वकल्याणकारिणी वैदिक जीवन-पद्धति

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जन.-जून २०२२ — **मूल्य २००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक
स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,
मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)
दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:
pavamani86@gmail.com

• **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८
भाग: सप्तत्रिंश, प्रथम-द्वितीय खण्ड
जन.-जून २०२२

• प्राप्ति स्थान-
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक
रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

• प्रेरणास्रोत :
प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक
स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक
प्रो. सोमदेव शतांशु
०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र
०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२२ गते
• **सृष्टि आदितः** १,९६,५८,८५१२२ गते
• **युगाब्द** ५१२२
• **दयानन्दाब्द** १९५

सम्पादकीयम्

सृष्टि के आदि में तपःपूत ऋषियों के अन्तःकरण में जिस ईश्वरीय ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ, उसे ही सम्पूर्ण संसार वेद के नाम से जानता है। वेदों को भारतीय ज्ञानपरम्परा का आदिस्रोत ही नहीं अपितु समस्त विश्वसाहित्य की आदिरचना भी माना जाता है। चराचर जगत् के ऐहिक और आमुष्मिक कल्याण के लिए वेदों में जिस प्रकृति प्रदत्त सार्वभौम और स्वाभाविक जीवन-सरणी का प्रकाश किया गया है, वह कल्याणकारिणी जीवन पद्धति किंकर्त्तव्यविमूढ़ मानव-जाति को निरन्तर सन्मार्ग की ओर प्रेरित करती रही है। अथर्ववेद का ऋषि कहता है- **आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्।** (अथर्ववेद ५.३०.७) **उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।** (अथर्ववेद ८.१.६) अर्थात् मनुष्य का जीवन सदैव ऊर्ध्वगामी, गतिशील और चरमलक्ष्य की प्राप्ति में संलग्न होना चाहिए।

किन्तु पाश्चात्य जीवन पद्धति में दीक्षित और भौतिक सुख को ही जीवन का लक्ष्य मानने वाला आधुनिक मानव सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, उचित और अनुचित के विवेक से रहित होकर केवलमात्र अर्थ का दास बना हुआ है। समाज के किसी भी अङ्ग पर विचार कर लीजिए, सभी में भयङ्कर भोग-भावना अतिक्रान्त हो चुकी है, जिसका दुष्प्रभाव किसी से छिपा नहीं है। जबकि दूसरी ओर जब हम वैदिक जीवन पद्धति पर सूक्ष्मता से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि

यह पद्धति त्याग, दान, अस्तेय, अपरिग्रह, सन्तोष और सदाचार आदि सनातन मूल्यों पर आश्रित है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय पदे-पदे त्यागपूर्वक उपभोग के लिए प्रेरित करता है- **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।** (यजुर्वेद ४०.१)

वैदिक जीवन-पद्धति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थचतुष्टय में भी जब मनुष्य धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन करता है और धर्मार्थपूर्वक काम का उपभोग करता है, तभी वह यथाक्रम सुसेवित त्रिवर्ग के द्वारा मोक्ष का अधिकारी बन पाता है। वैश्विक कल्याण के लिए पुरुषार्थ चतुष्टय की इस वैदिक पद्धति से भिन्न वैज्ञानिक और उत्तम मार्ग सम्भव ही नहीं है।

वैदिक जीवन-पद्धति में निर्धारित वर्ण-व्यवस्था के अनुसार जन्ममात्र से कोई भी व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं है अपितु गुण और कर्म के आधार पर ही उसे समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इस वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के घर में उत्पन्न प्रत्येक बालक कर्मों के आधार पर अपने-अपने वर्ण के निर्धारण में पूर्ण स्वतन्त्र है। श्रीमद्भगवद्गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है- **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।** इतना ही नहीं शास्त्रों में इस बात का भी प्रावधान किया गया है कि यदि कोई ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन, त्याग और तपश्चर्या से विरहित कर्म करता है तो उसकी वर्णच्युति भी सम्भव है और तपःपूत ब्राह्मणोचित कर्म करने वाला मनुष्य चाहे वह जन्मना क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ही क्यों न हो, ब्राह्मण वर्ण में दीक्षित हो सकता है। मनुस्मृति स्वयं इसका प्रमाण देती है-

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

(मनुस्मृति २.१६८)

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

(मनुस्मृति १०.१०.६४)

वैदिक जीवन-पद्धति में मानव के शतायु जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य लक्ष्य विद्यार्जन और गुणार्जन है। गृहस्थाश्रम में धर्मपूर्वक अर्थार्जन और काम का सेवन मुख्य लक्ष्य माना गया है। वानप्रस्थाश्रम में योगाभ्यास और तपश्चर्या मुख्य लक्ष्य हैं। इसी तरह तुरीयाश्रम में परिव्राजक के रूप में समाज में ज्ञान का प्रसार और प्राणिमात्र की सेवा ही संन्यासी का मुख्य लक्ष्य निर्धारित किया गया है। जाबालोपनिषद् के अनुसार मनुष्य को चारों आश्रमों का पालन अवश्य करना चाहिए- **स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।** (जाबालोपनिषद् ४.१)

वैदिक जीवन-पद्धति वस्तुतः यज्ञमूलक है। आज भ्रमपूर्ण भौतिक विकास और अर्थोपार्जन के लिए मनुष्य जिस प्रकार वेदविरुद्ध आचरण में संलग्न है, उससे समस्त प्रकृति ही विकृति को प्राप्त हो चुकी है। यज्ञ के द्वारा पर्यावरण शुद्धि और यज्ञीय भावना से मनुष्य के सभी मनोविकारों का निदान सम्भव है। इसलिए शास्त्रकारों ने प्रत्येक गृहस्थ के लिए ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और भूतयज्ञ का पालन अनिवार्य कर्म के रूप में निर्दिष्ट किया है। राजर्षि मनु का कथन है- **पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथाशक्तिर्न हापयेत्।** प्रकृति जिस प्रकार निरन्तर यज्ञ में सलंग्न है, उसी प्रकार मनुष्य को भी चाहिए कि वह अपने जीवन को यज्ञमय बनाते हुए **स्वाहा** और **इदन्न मम** के सङ्कल्प के साथ परोपकार, सङ्गठन तथा दान की वैदिक भावना को सुदृढ़ करे। यह यज्ञ ही है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पोषक है- **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।**

आचार्य कौटिल्य के अनुसार जिस समाज में ये आर्य-मर्यादाएँ व्यवस्थित होती हैं, वर्ण और आश्रम नियमों का पालन होता है तथा जो त्रयी द्वारा विहित विधान से रक्षित हो, वह समाज कल्याण का भागी होता है, दुःख का नहीं -

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्र्य्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥

(अर्थशास्त्र १.३)

पावमानी के प्रस्तुत अङ्क में वैदिक जीवन-पद्धति पर आश्रित वैदिक विद्वानों के सारगर्भित शोध लेख प्रकाशित किए जा रहे हैं। यदि मानव-जाति स्वयं के साथ-साथ इस चराचर विश्व का कल्याण चाहती है तो उसे निश्चय ही वैषम्यरहित, शोषण मुक्त वैदिक जीवन-पद्धति को अपनाना ही होगा। तभी एक आदर्श परिवार, आदर्श समाज, आदर्श राष्ट्र और आदर्श विश्व का निर्माण सम्भव है।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद १०.१९१.४)

प्रो. सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

वैदिक यज्ञीय जीवन-पद्धति

डॉ. राकेश शास्त्री[१]

यज्ञ शब्द यज् धातु से घञ् प्रत्यय करके, निष्पन्न होता है, सिद्धान्तकौमुदीकार ने इसके देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान अर्थों का उल्लेख किया है,[२] जिसका अर्थ है यज्ञ करने से देवताओं की पूजा, देवतुल्य विद्वानों का सान्निध्य तथा दक्षिणा रूप में दान देने का सौभाग्य प्राप्त होता है। आचार्य यास्क ने यज्ञ में देवपूजा के साथ यज्ञ में अपने आराध्य देव से याचना करना अर्थ भी लिया है।[३] वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का उल्लेख हुआ है, जबकि ऐतरेय ब्राह्मण ने इनमें से प्रमुख पाँच का नामोल्लेख किया है- अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम।[४] इसी प्रकार धर्मसूत्रों ने ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं मनुष्ययज्ञ नामक पञ्च महायज्ञों का कथन किया है।[५] मत्स्य पुराण के

---

[१] **सेवानिवृत्त अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, श्री गोविन्द गुरु राजकीय महाविद्यालय, बाँसवाडा (राज.)**

[२] यज देवपूजासंगतिकरण- दानेषु- सिद्धान्तकौमुदी

[३] निरुक्त- ३/४/१९

[४] स एष यज्ञः पंचविधः- अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि, पशुः सोमः इति। ऐ.ब्रा.

[५] मनुस्मृति- ७/३०

अनुसार- **जिस कर्म में देवता विशेष, हवनीय द्रव्य, वेद-मन्त्र, ऋत्विक् तथा दक्षिणा, इन पाँच का संयोग हो, उसे यज्ञ कहते हैं।**[६]

वेदों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि वैदिक आर्यों की जीवन-पद्धति यज्ञमय थी। '**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**' इस सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है, इसीलिए वे यज्ञ-कर्म को अपने जीवन में मुख्यता प्रदान करते थे। तैत्तिरीय संहिता यज्ञ द्वारा देवऋण से मुक्त होने की बात करती है।[७] यही कारण है कि यज्ञादि कार्यों को वे नियमितरूप से कर्तव्य भावना से करते थे। वेदों में अनेक स्थलों पर यज्ञ की महत्ता का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में एक स्थल पर अग्नि को सम्बोधित करके कहा है कि जो व्यक्ति तुम्हारे लिए समिधा प्रदान करता है, वह निश्चय ही, उत्तम वीर्य को धारण करते हुए पुष्ट होता है।[८] इसी प्रकार अन्यत्र श्रेष्ठ प्रकार की समिधा आदि सामग्री से यज्ञ करने वालों के लिए धन, ऐश्वर्य तथा तेज के प्राप्त होने यहाँ तक कि अन्त में अमरत्व को प्राप्त करने की बात का उल्लेख हुआ है।[९]

ऋग्वेद,[१०] सामवेद[११] और अथर्ववेद[१२] का कहना है कि यज्ञ से ही सोम, वृद्धि को प्राप्त हुआ था। वैदिक आर्यों की मान्यता थी कि यज्ञ के

---

[६] देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते। मत्स्य पुराण-१४४/४४

[७] तैत्तिरीय संहिता ६/३/१०/१३

[८] ऋग्वेद ३/१०/३

[९] ऋग्वेद ६/५/५

[१०] ऋग्वेद ८/१४/५

[११] सामवेद १/१२१, २/९८९

[१२] अथर्ववेद २०/२७/५

द्वारा व्यक्ति को सभी प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है।[१३] इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर उल्लेख है कि यज्ञ के प्रभाव से व्यक्ति को हमेशा ही श्रेष्ठ लोगों के सत्संग तथा धन की प्राप्ति होती है।[१४]

इसी प्रकार ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि जो लोग इन्द्र को हव्य प्रदान करके, उसकी स्तुति करते हैं या हव्य के साथ मन्त्रों का पाठ करते हैं, वे स्वराज प्राप्त करते हैं, साथ ही, अनेक प्रकार के फलों को प्रदान करने वाले इन्द्र उन्हीं के लिए आकाश से मेघ का वर्षण भी करते हैं।[१५] इसी प्रकार सोम देवता के लिए हव्य प्रदान करने पर यहाँ उन्हें गौ तथा तेज गति वाला घोड़ा प्रदान करने की बात का भी उल्लेख हुआ है।

इसी प्रसङ्ग में उल्लेखनीय यह भी है कि वेदों में यज्ञ के पश्चात् दक्षिणा देने के महत्त्व का भी स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया गया है, तदनुसार- जो व्यक्ति यज्ञ के बाद दक्षिणा प्रदान करता है, उसी को मणि, मुक्ता आदि सभी वस्तुओं की प्राप्ति होती है तथा दक्षिणा देने वाले को ही द्युलोक में सूर्य, उसे जरामरण से रहित स्थान को प्राप्त कराते हैं।[१६] इसी प्रकार दक्षिणा न देने के कुफल की भी यहाँ पर विशेषरूप से चर्चा की गयी है।[१७]

वैदिक मान्यता है कि यज्ञ करने से पापों का क्षय होता है, इसीलिए वैदिक ऋषि पापों को दूर करने की प्रार्थना करता है।[१८] वस्तुस्थिति तो

[१३] वाजसनेयी संहिता २०/८४, सामवेद-१८९, मैत्रायणी संहिता-२/६/१२, ७२/४

[१४] वाज.सं. १२/२८, ऋग्वेद-१०/४५/११, तै.सं.-४/२/२/४, मैत्रा. सं.-२/७/९

[१५] ऋग्वेद १/५४/७

[१६] ऋग्वेद १/१२५/६

[१७] ऋग्वेद १/१२५, १०/१०७

[१८] ऋग्वेद १/१८५/२

यह है कि यज्ञादि कार्यों के माध्यम से व्यक्ति का जन्म सफल हो जाता है, यही उस समय के समाज में विश्वास था, इसीलिए वैदिक संस्कृति को यज्ञीय-संस्कृति की संज्ञा भी दी गयी है। यही कारण है कि यहाँ पर यज्ञ के द्वारा मनुष्य-जन्म को धौंकनी से लोहे के समान निर्मल करने की बात का भी एक स्थल पर कथन किया गया है।[१९] यज्ञ पूर्णरूप से अहिंसापूर्ण कर्म है इसीलिये इसका एक नाम अध्वर है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल में यज्ञ, स्तुति एवं स्तुति के साथ आहुति प्रदान करने वाले व्यक्ति को अभिलषित धनों को प्राप्त करने की बात का उल्लेख किया गया है।[२०] इसके अलावा इसी वेद में एक मन्त्र में कहा गया है कि अग्नि में समिधा के साथ आहुति प्रदान करने से इसकी परिचर्या करने वाला व्यक्ति अत्यधिक यशस्वी होता है एवं उसे देवकृत और मनुष्यकृत पाप व्याप्त नहीं करते हैं।[२१]

उल्लेखनीय है कि यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है कि जिस भी देवता की हम स्तुति करते हैं, उसका निरन्तर ध्यान करते हैं, हमारी भावना भी उसी के अनुसार हो जाती है, वैदिक ऋषि इस बात से पूर्णरूप से परिचित थे, तभी तो उन्होंने ऋग्वेद आदि सभी वेदों तथा दूसरी संहिताओं में यज्ञ के महत्त्व तथा जीवन में उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन किया है, जिसे उनके यज्ञीय जीवन-पद्धति का द्योतक माना जा सकता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में उपमा के माध्यम से अश्विनी देवता द्वारा यज्ञ करने वाले का मंगल करने की बात भी कही गयी है, इसलिए मंगल का दर्शन ही व्यक्ति को यज्ञादि शुभ कर्म करने के लिए प्रेरित

---

[१९] ऋग्वेद ४/२/१७

[२०] ऋग्वेद ६/१/९, २/५, ३/१, २, ५/७, ६/५, १३/४

[२१] ऋग्वेद १/१८५/२

करता है।[२२]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि वैदिककाल में व्यक्ति की जीवन-पद्धति पूर्णरूप से यज्ञमय थी, वह इसे अपने जीवन का अभिन्न अङ्ग मानता था एवं अपने जीवन में सभी प्रकार के धन एवं समृद्धि को प्राप्त करने के लिए, आध्यात्मिक उन्नति के लिए, अपने लोक तथा परलोक दोनों का सुधार करने के लिए वह अनेक प्रकार के यज्ञों का आयोजन करता था। यज्ञ में ऋत्विजादिकों को दक्षिणा प्रदान करने का भी विधान था, दक्षिणा के अभाव में यज्ञ की पूर्णता नहीं मानी जाती थी। विश्वजित् यज्ञ में तो व्यक्ति अपनी सभी वस्तुओं का पूर्णरूप से दान कर देता था, महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के पञ्चम सर्ग में रघु द्वारा इसी प्रकार के यज्ञ को करने का उल्लेख किया है।

[२२] ऋग्वेद ८/२६/१३

वैदिक साहित्य और उसमें प्रवर्तित व्यावहारिक जीवन-पद्धति

डॉ. पंकज कुमार मिश्र[१]

वैदिक साहित्य भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का न्यासमात्र नहीं प्रत्युत प्राचीन भारत के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक जीवन का सर्वांगीण चित्रण है। आज जब एषणाओं की विवेकहीन प्रतिस्पर्धा में मानवशक्ति विनाशसरित् के तट पर खड़ी है तब इस आसन्न विनाश से बचने के लिए विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व, ग्लोबलाइजेशन, पर्यावरणप्रेम जैसी विचारधारा पर विमर्श तथाकथित प्रबुद्ध, वैश्विक मंचों पर करने लगे हैं। ऐसी स्थिति में इस विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व तथा विश्वसंस्कृति के अधिकरण वैदिक साहित्य में प्रवर्तित जीवन पद्धति की समीक्षा, परीक्षा, अन्वीक्षा तथा परिवीक्षा की परम एवं चरम उपादेयता अभिव्यंजित होती है क्योंकि वैदिक साहित्य से ही भारतीय संस्कृति का वास्तविक ज्ञान होता है।

तव्यत, अनीयर् प्रत्यय या विधिलिङ् के द्वारा कथ्य, तथ्य तथा

---

[१] **एसोसिएट प्रोफ़ेसर, संस्कृत, सेंट स्टीफन्स कॉलेज, दिल्ली**

पथ्य को यहाँ जीवन पद्धति का तात्पर्य ग्रहण करने की अपेक्षा यह अर्थग्रहण किया जाए कि उस काल के लोगों के जीवन की क्रिया, प्रक्रिया और प्रतिक्रिया कैसी थी तो वेद, वैदिक साहित्य एवं वैदिक जीवन पद्धति को समझना सरल हो जाता है।

वेद में प्राचीन भारतीय समाज का वैविध्यपूर्ण चित्रण उपलब्ध होता है। समाज के विभिन्न मनुष्य किस प्रकार के कार्य किया करते थे; ज्ञानार्जन, रक्षण, अर्थोपार्जन तथा सेवाकार्य का विभाजन किस प्रकार किया गया था? समाज में अर्थव्यवस्था किस प्रकार की थी? व्यापार तथा वाणिज्य का क्या स्वरूप था? जीवन में कृषि, अन्न, पशु आदि का किस प्रकार और क्या उपयोग किया जाता था? आचार, विचार एवं संचार कैसे थे- इस सबका वर्णन वेदों में प्राप्त होना उस काल की जीवन पद्धति का आदर्श है। विवाहसूक्त, संवादसूक्त, अक्षसूक्त आदि अनेक सूक्तों से तत्कालीन सामाजिक आचरण, परम्पराओं और रीतियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सामाजिक दृष्टि से वर्णव्यवस्था, समाज एवं व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध, विभिन्न वर्गों के कर्त्तव्य, विवाह विधि, भोजन, परिधान, अलङ्कार आदि से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री ऋग्वेद में वर्तमान है ।

प्राचीनकालिक जीवनदर्शन, शिष्टाचार, सदाचरण, श्रेय तथा प्रेय आदि वैदिक लोगों की जीवन शैली का सजीव चित्रण करता है। दार्शनिक दृष्टि से वैदिक साहित्य में सृष्टि-उत्पत्ति, ब्रह्म, जीव, माया का आवरण, बहुदेववाद एवं एकेश्वरवाद, पुर्नजन्म आदि का अत्यन्त गम्भीर विवेचन किया गया है। आर्थिक दृष्टि से भी ऋग्वेद एवं अथर्ववेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इसमें कृषि, कृषि के उपकरण, अन्न, व्यापार-वाणिज्य, आजीविका के साधन, पशुपालन, अन्य उद्योग-धन्धे आदि का पर्याप्त वर्णन है। प्राचीनकालीन राजनीति का सुन्दर स्वरूप भी वेदों से

ज्ञात होता है। राजा का निर्वाचन, राजा और प्रजा के कर्त्तव्य, राज्यशासन, संघशासन, सभा और समिति, मन्त्रिमण्डल, विभिन्न नीति प्रयोग आदि राजनीति सम्बन्धी व्यवस्था एवं आचरण भी वेदों में उपलब्ध होता है।

वेदों में जिस समाजकल्याण की कामना प्रकट की गयी है उसमें सारी सृष्टि में समरसता का दर्शन करते हुए ऋषियों ने मनुष्य में भेदबुद्धि को निरस्त करने का भी संदेश दिया है। ऋग्वेद के संज्ञानसूक्त[२] समाज के सब मनुष्यों के लिए **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्** अर्थात् तुम सब एकसाथ चलो, एकसाथ बोलो तथा तुम्हारे मन में एक से विचार हों की शुभ्रकामना करते हैं। मनुष्य और मनुष्य की समानता के विचार की इस सूक्त में जो अभिव्यक्ति हुई है वह विश्व के किसी भी समाज में दृष्टिगत नहीं है। तद्यथा-

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।[३]

किन्तु यदि ऐसी भावना से युक्त हो लोकमङ्गल और सामरस्य की बात वैदिक ऋषि प्रस्तुत करते हैं तो निस्सन्देह इसका अनुपालन भी होता होगा जो आज भी प्रवहमान है। समाज में यजुर्वेद में प्रतिपादित याज्ञिक विधिविधान के पीछे प्रतीकात्मक रूप में विश्व के कल्याण की भावना ही है। मनुष्य अपने मन के सङ्कल्प से सब कुछ पा सकता है- इस तथ्य को हृदयङ्गम कराते हुए ये विधि-विधान प्रतीकात्मक रूप में सङ्कल्प शक्ति की प्रतिष्ठा करते हैं।

---

[२]ऋ० १०/१९१

[३]ऋ० १०/१९१/४, अथर्व० ६/६४/२

मनुष्य और प्रकृति का इतना सहज और घनिष्ठ सम्बन्ध अन्य किसी काव्य में नहीं मिलता। कदाचित् कालिदास को अपने काव्यों में प्रकृति को प्रधान पात्र बनाने की प्रेरणा यहीं से मिली होगी।

गौ के विषय में ऋषि भरद्वाज कहते हैं-

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥[४]

अर्थात् हे गायो, तुम कृश को मोटा बना देती हो, श्रीविहीन को सुंदर बना देती हो। हे सुभाषिणी गौओ! हमारे घर को मङ्गलमय बनाओ। सभाओं में तुम्हारी प्रशंसा होती है। शकराज रुद्रदामा की भी प्रेरणा यही जीवन पद्धति रही होगी कि वे गोरक्षार्थ प्रवृत्त थे।

जीवन और जगत् के प्रति ऋषियों नदियों, पर्वतों, वनस्पतियों और अरण्यों सबमें ईश्वरतत्त्व की अंतर्व्याप्ति देखते हुए ये कवि समस्त चराचर सृष्टि को सामरस्य से ओतप्रोत देखते हैं। नदियों का यह सुन्दर रूप वैदिक कवियों की आँखों से ही देखा जा सकता है-

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परियन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो धृतनिर्णिगप्सु॥[५]

अर्थात् उत्तम प्रकार का शृङ्गार करके ये लज्जाशील युवतियों जैसी नदियाँ उस अपांनपात् देव की सेवा में उपस्थित होती हैं। वह देवता अपने तेजस्वी व सामर्थ्यपूर्ण अङ्गों से जल का कञ्चुक धारण किये हुए बिना इंधन के इन नदियों के बीच हमारे लिए आभासित हो रहा है।

वेद और देव ये दोनों पर्याय ही हैं- ऐसा समझा जाना चाहिए।

---

[४] ऋ० ६/२८/६

[५] ऋ० २/३५/५

तदनुसार वैदिक साहित्य में प्रवर्तित जीवन पद्धति से वेद को पृथक् नहीं किया जा सकता। इस सन्दर्भ में यदि इस पर विमर्श करें तो हम पाते हैं कि वैदिक मनीषियों की दृष्टि में जीवन के तीन स्तर हैं- आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। ये तीनों स्तर परस्पर अनुस्यूत हैं। इनमें से कोई भी शेष दो के विना सम्भव नहीं है। प्रत्येक वस्तु के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ये तीनों रूप होते हैं। देवों के उक्त तीनों रूप संभाव्य हैं। देवता और मनुष्य का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित होता है। देवता के बिना मनुष्य नहीं और मनुष्य के बिना देवता नहीं। कदाचित् अन्य किसी संस्कृति में देवता की ऐसी मानवसापेक्ष परिकल्पना नहीं है। देवता और मनुष्य का यह परस्पर उपकार्योपकारकभावसम्बन्ध सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण के लिए परिकल्पित है। इस दृष्टि से यह कहना भी सही है कि मनुष्य स्वयं देवों का निवासस्थल है। ताण्ड्य ब्राह्मण (६/९/२) कहता है **नरो वै देवानां ग्रामः**।[६] मैत्रायणी संहिता (३/२/२) भी यही कहती है कि मनुष्य में ही सारे देवता निवास करते हैं- **विश्वे हीदं देवा स्मो यन्मनुष्यः**।

इसी प्रकार वैदिक देववाद में देवविषयक सर्वाधिक मौलिक चिंतन यह प्राप्त होता है कि देवों के मूल तत्त्व एक हैं। देवतत्त्व का आशय विविधता में एकता ही नहीं, एकता में विविधता भी है। सब कुछ एक मूल से निकला है। तद्यथा-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥[७]

---

[६]ताण्ड्य ब्रा० ६/९/२

[७]ऋ० १/१६४/४६

इसी प्रकार ऋग्वेद के आठवें मण्डल में कहा गया है-

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं विबभूव सर्वम्॥

अग्नि ही इन्द्र, वृषभ, उरुगाय, विष्णु, ब्रह्मा और ब्रह्मणस्पति भी है। अथर्ववेद में तो सारे देवों की मूलभूत एकता का विचार और भी सुस्पष्ट तथा सुदृढ़ रूप में अनेकत्र अभिव्यक्त किया गया है।

जब ऋषि ऐसे तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं तो वैश्विक सन्देश के साथ-साथ अपनी उस अनुभूति के श्रम और साधना को भी दर्शाते हैं कि जीवन का परम व चरम लक्ष्य क्या है। इस संस्कृति में देवों के आवाहन, आराधन और ध्यान के द्वारा मनुष्य अपने आप को और अपने पर्यावरण को दिव्य स्वरूप दे देता है।

गयाचरण त्रिपाठी कहते हैं- "संसार के अन्य किसी भी देश में देवों के स्वरूप के विकास का सहस्रों वर्ष लम्बा इतिहास और देव-कथाओं के विकास की इतनी लम्बी परम्परा प्राप्त नहीं होती, जितनी भारत में। सहस्रों वर्षों पूर्व वैदिक ऋषियों की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि, निरीक्षण-क्षमता एवं कल्पनाशक्ति ने जिन देवों की उद्भावना की थी, उनके स्वरूप का आने वाली पीढ़ी के हाथों क्रमशः परिवर्धन एवं परिवर्तन होता चला गया और एक चित्रात्मक वैविध्यपूर्ण तथा सजीव देवशास्त्र का जन्म हुआ।"

वैदिक संहिताओं में जिस यज्ञ का निरूपण है, वह केवल अनुष्ठान या कर्मकाण्ड नहीं है। वह अपने आपको देवमय या ईश्वरमय बनाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में मनुष्य अपने सीमित अहं की आहुति देकर विराट् से एकाकार हो जाता है। यज्ञीय आहुति इसी सीमित अहं के विसर्जन और समष्टि से जुड़ने की प्रतीक है। यज्ञ के द्वारा यजमान विश्व को सञ्चालित करने वाली शक्तियों से ऊर्जा की प्राप्ति करता है।

निम्नलिखित मंत्रों में शक्ति या तेजस्विता की कामना इसी प्रक्रिया को इंगित करती है -

ओ३म् तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि देहि।
बलमसि बलं मयि देहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि।

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के अनुसार अश्वमेध आदि वैदिक यज्ञों में सूत की उपस्थिति आनुष्ठानिक रूप से अनिवार्य थी। सूत, शैलूष आदि की उपस्थिति नृत्त, गीत आदि के अनुष्ठानों के सम्पादन के लिए भी आवश्यक थी। वैदिक वाङ्मय में सूत के लिए रथकार शब्द भी प्रयुक्त है। ऋग्वेद में कारु (बढ़ई) शब्द का प्रयोग तो मिलता है, रथकार शब्द का नहीं। अथर्ववेद से सङ्केत मिलता है कि रथकार और कर्मार को समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वैदिक यज्ञों में नृत्त, गीत, वादन आदि भी आनुष्ठानिक रूप से अनिवार्य अङ्ग रहे हैं। इन वर्णनों से यह अभिव्यक्त होता है कि वैदिक समाज में मानव जीवन से सम्बद्ध उपयोगिता के सारे साधन एवं साधाकों की व्यवस्था थी। जीवन की उपयोगिता का अध्यात्म के साथ समन्वय बिठाते हुए ही उस समाज की सारी पद्धतियाँ निर्धारित थीं।

उक्त आध्यात्मिक अथ च पारमार्थिक ज्ञान से यह भी ज्ञात होता होता है कि तत्कालीन समाज में भी लोग अल्पायु होते थे, रोगाधीन होते थे, तापत्रय के ताप में झुलसते थे। तभी तो तत्तत् रोग एवं उनकी चिकित्सा का भी उल्लेख प्राप्त होता है चाहे वह प्राकृतिक चिकित्सा हो या कृत्रिम। तदनुसार सूर्यकिरण चिकित्सा, वायु चिकित्सा, प्राणायाम चिकित्सा, अग्नि चिकत्सा, जल चिकित्सा, यज्ञ चिकित्सा, मानस

चिकित्सा, हस्तस्पर्श चिकित्सा आदि का अभिज्ञान अत्यन्त सरलता से किया जा सकता है। तद्यथा-

सूर्यचिकित्सा-

सूर्य हमें जीवन शक्ति एवं प्राण शक्ति देता है- **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (ऋ. १.११५.१)। अथर्ववेद में उदीयमान सूर्य की महिमा का सुन्दर प्रतिपादन मिलता है। उदीयमान सूर्य सारे दोषों को दूर कर देता है। हृदयरोग को शान्त करता है। रक्त की अल्पता को दूर करता है।[८]

वायुचिकित्सा अथ वा प्राणायाम-

प्राणायाम यद्यपि योग से प्रादुर्भूत क्रिया है किन्तु वेदों में उपलब्ध इसके सन्दर्भ निस्सन्देह यह सिद्ध करते हैं कि अपने जीवन में स्फूर्ति और ऊर्जा भरने के लिए वायु को किस प्रकार नियंत्रित किया जाए और उससे क्या-क्या लाभ हो सकते हैं, इनका पूर्ण ज्ञान था तथा यह अभ्यास लोक जीवन में अनिवार्यतया प्रविष्ट हो चुका था। अथर्ववेद दो प्रकार के वायु का उल्लेख करता है। प्राणायाम भी श्वास की क्रियाओं से निष्पन्न होता है।

१. **श्वासक्रिया**- इस से शुद्ध वायु शरीर में प्रविष्ट होकर शरीर के आतंरिक विकार को शुद्ध करता है।

२. **निःश्वासक्रिया**- दूषित तत्त्व के अपसारण के कारण रिक्त स्थान में शुद्ध वायु वायु का सञ्चार होता है। यह प्राण वायु शरीर के रक्त को शुद्ध करता है। अपान वायु शरीर के दोष समूह को बाहर करता है। तद्यथा-

---

[८]अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्।
व्युच्छान्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम्॥ अथर्व० १७.१.३०॥

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद् रपः॥[९]

अग्नि चिकित्सा-

अग्नि के द्वारा नीरोग होने के कई उपायों का निदर्शन है। यजुर्वेद में अग्नि को शीत की औषधि कहा गया है। **अग्निर्हिमस्य भेषजम्** (यजु. २३.१०) इसका निहितार्थ यह अवश्य ही लिया जा सकता है कि शीतनिवारण के लिए तथा शीतजन्य रोगों के शमन के लिये तत्कालीन समाज अग्निसेवन करते होंगे। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अग्निसेवन का निर्देश है- **अग्निं च विश्वशम्भुवम्** (ऋ. १.२३.२०), **अग्निः कृणोतु भेषजम्** (अथर्व. ६.१०६.३)।

इसी प्रकार, अथर्ववेद में यह भी दृष्टान्त प्राप्त होता है कि अग्नि के प्रभाव से विषनाश होता है। सर्पदंश की चिकित्सा के लिए अग्नि का निर्देश प्राप्त होता है। सर्प के दंश से युक्त शरीर के अङ्ग में प्रतप्त लौह का स्पर्श कराया जाता था, यथा-

आरे अभूद् विषमरौद् विषे विषमप्रागपि।
अग्निर्विषं अहेर्निरधात् सोमो निरणयीत्।
दंष्टारमन्वगाद् विषमहिरमृत।[१०]

सर्प, विष, दंश, भेषज प्रभृति शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि कतिपय प्राकृतिक कष्टों में सर्प भयङ्कर भय रहा होगा। एतदर्थ उस काल के चिन्तकों ने अपने जीवन में ऐसी प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति अपनायी थी जो सहज, सरल एवं सफल थी।

---

[९]अथर्व. ४.१३.२

[१०]अथर्व. १०.४.२६

जल चिकित्सा-

वेद में वरुण को जलचिकित्सक के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। रुद्र को ही प्रथम दैव्य भिषक् कहे जाने का उद्धरण प्राप्त होता है।[११] ऋग्वेद में यह वर्णन प्राप्त होता है कि जल में सारी ओषधियों के गुण हैं। जल से सारे रोगों की चिकित्सा संभव है-

अप्सु मे सोमो अब्रवीद् अन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः।।[१२]

यज्ञ चिकित्सा-

इस विषय में किसी भी प्रकार की विवेचना या विश्लेषण पिष्टपेषण होगा। इसके लिए यह कहना ही पर्याप्त होगा कि मानवीय जीवन पद्धति में यह व्यवस्था वाणी और अर्थ की तरह संपृक्त थी। इसके बिना उस काल की जीवन-पद्धति तो दूर उस काल को भी नहीं समझा जा सकता। मानव की इस समस्त व्यवस्था को इस तरह समझा जा सकता है कि यह इस प्रकार से सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त थी जिस प्रकार दुग्ध में नीर।

मानस चिकित्सा-

चिकित्सा शास्त्र में मन की महत्ता का वर्णन प्राप्त होता है। यदि मन शुद्ध है तो रोग शोक आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अपवित्र मन रोगों का कारण बन जाता है। मैत्रायणी उपनिषद् यह स्पष्ट उद्घोषणा करती है कि मन ही सारे सुख दुःख का कारण है।[१३] अथर्ववेद में यह वर्णन प्राप्त होता है कि मन ही घोर दुःख एवं शान्ति को उत्पन्न करता है।

---

[११]यजु. १६.५

[१२]ऋ. १.२३.२०

[१३]मन एव मनुष्याणा कारणं बन्धमोक्षयोः, मैत्रायणी उपनिषद्, ४.११

मन की शुद्धि से ही सुख और शान्ति प्राप्त होती है। तद्यथा-

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वा ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु॥१९.९४

परवर्ती चिकित्सा-शास्त्र अष्टाङ्गहृदय में वाग्भट ने यह स्पष्ट किया है कि मन के शुद्ध एवं करुणायुक्त होने पर सारे ज्वरों का विनाश हो जाता है।[१४] बाद में तो यह मुहावरा ही चल पडा **कि मन चंगा तो कठौती गंगा**।

लोकमान्य तिलक ने तो आर्यत्व एवं हिन्दुत्व का लक्षण ही यही दिया था कि वेदों को प्रमाण माना जाए- **प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु**। भारतीय संस्कृति के जितने भी मूल उपादान हैं, उन सब की स्रोतभूमि वैदिक साहित्य ही है। यज्ञ कर्म की पवित्रता और यज्ञ पर अटूट विश्वास, एकेश्वरवाद पर आस्था, निष्काम कर्म, संसार की क्षणभंगुरता, ईश्वर की सर्वव्यापकता, ज्ञान-कर्म एवं भक्ति का मञ्जुल समन्वय, पुरुषार्थ और जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष आदि सभी भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्त्वों का बोध वैदिक साहित्य से सुचारुरूपेण हो जाता है और उच्छलजलधितरङ्गवत् यदि इनका निदर्शन इस वैदिक साहित्य में प्रवर्तित है तो निस्सन्देह यह वह जीवन पद्धति है जिसका अनुसरण कर हम विश्ववन्द्य कहलाते हैं।

तभी तो छलछद्मपरिच्छदाच्छन्न मैक्समूलर को भी मानना पड़ा कि- "संसार के इतिहास में उस रिक्त स्थान की पूर्ति वेद ने की है, जिसकी पूर्ति किसी भी भाषा की कोई भी साहित्यिक कृति नहीं कर सकती थी। यह हमें उस युग में ले जाता है, जिसका कहीं भी कोई भी साक्ष्य नहीं

---

[१४]करुणार्द्रं मनः शुद्धं सर्वज्वरविनाशनम्, १.१७३

मिलता, और यह हमें सीधा उन लोगों की पीढ़ी तक पहुँचा देता है, जिसका वेद के बिना अनिश्चित-सा चित्रण हम केवल कल्पना और अनुमान के बल पर कर सकते थे। जब तक मानव अपनी जाति के इतिहास में रुचि लेता रहेगा, और जब तक वह पुस्तकालयों तथा संग्रहालयों में पूर्व युगों के अवशेष एकत्र करता रहेगा तब तक मानव की आर्यशाखा से संबद्ध अभिलेखों से युक्त ग्रंथों की लम्बी पंक्ति में सबसे प्रथम स्थान सदा ऋग्वेद का ही रहेगा।"

अस्तु जीवन एवं जगत् की कोई भी ऐसी पद्धति नहीं है जिसका मूल वेद में व्याप्त न हो, इसीलिये कहा जाता है कि- **सर्वज्ञानमयो हि सः**। मानवीय जीवन पद्धति अथ च मानव के व्यावहारिक जीवन पद्धति में जो कुछ भी सत्य है शिव है और सुन्दर है उसका मूल वेद है। वस्तुत: यह वेद एवं वैदिक साहित्य है जिन्होंने भारतीय संस्कृति में जीवन एवं जीवन के प्रति सार्थक दृष्टि दी। जीवन को सुन्दर बनाने वाला प्रत्येक विचार मानो वेद है तथा उन विचारों का उपजीव्य भी वेद ही है।

परमार्थप्रधाना जीवनपद्धतिः

डॉ. विजयलक्ष्मीः[१]

आदौ तावत् विचारयामः कः परमः, कश्चार्थः। परं परत्वं माति-सपरमः (आतोऽनुपसर्गे कः[२] इति कः प्रत्यये) अर्थात् उत्कृष्टः, प्रधानः, आद्यः। प्रणवः, ओङ्कारो वापि परमस्य अर्थत्वेन अङ्गीकृतः। परमः चासौ अर्थः=परमार्थः। अमरकोशे[३] **द्रव्य-वित्त-स्वापतेय-रिक्थ-ऋक्थ-धन-वसु-हिरण्य-द्रविण-द्युम्न-अर्थ-रै-विभव-ग्रन्थ-साधनानि** अर्थपदस्य समानार्थकानि स्वीकृतानि, तथा च तत्रैव-**अर्थोऽभिधेयैरवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु।**[४] वाचस्पत्याभिधेये कोशे अर्थस्य प्रयोजननामकं पर्यायं स्पष्टीकुर्वता लिखितम्- **प्रयोजनं यद्यपि नानाविधम् तथापि शास्त्रकारैः प्राधान्येन धर्मार्थकाममोक्षरूपाणि चत्वार्येवाङ्गीकृतानि तत्रैव सर्वप्रयोजनानामन्तर्भावात्। त एव चत्वारः पुरुषार्थाः पुरुषेणेष्यमाणत्वात्। साङ्ख्यास्तु सर्गापवर्गात्मकं द्विविधं पुरुषार्थमाहुः पुरुषस्य प्रयोजनमुद्दिश्य प्रकृतेः प्रवर्तनात्। एवं चतुर्विधे**

---

[१] **आचार्या, संस्कृतविभागे, सनातन-धर्म-महाविद्यालयस्य, मुजफ्फरनगरे।**

[२] अष्टाध्यायी ३.२.४

[३] अमरकोशः२.९.९०

[४] तदेव ३.३.८६

द्विविधे वा पुरुषार्थे मतभेदेन स्थितेषु मध्ये मोक्ष एव परमपुरुषार्थः। एवं **परमार्थप्रधाना जीवनपद्धतिः** शीर्षकस्यास्याभिप्रायो वर्तते **मोक्षप्रधाना अर्थात् सुखप्रधानत्वेन आनन्दं प्रति उन्मुखी जीवनपद्धतिः।** किं तावत् मोक्षः? केन मोक्षः? कस्य मोक्षः? जिज्ञासा इमाः समादधता प्रोक्तं शब्दकल्पद्रुमकारेण- **मोक्ष्यते दुःखमनेन मोक्षः**। अथ च दुःखं किम्? **रजसस्तु फलं दुःखम्**। राजसस्य कर्मण (सकामकर्मणः) इत्यर्थः। कर्माधिकारात् फलमपि दुःखम् एव कारणानुरूप्याद् राजस एव।[५] कस्य मोक्ष इत्युक्ते आत्मनः, अन्तःकरणस्य, इन्द्रियाणां, शरीरस्य च। परमार्थः पुरोहितश्च, द्वावपि अन्योन्यं पूरयतः, कथमिति चेद् विमृशामः। **अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य...** मन्त्रेऽस्मिन्नुन्नतिं प्रति नीयमानस्य परमात्मनः एकं वैशिष्ट्यं पुरोहितमपि मतम्। महाभारते एकः श्लोकः आयाति यत्र भीष्ममुखेन सूचयति व्यासो यत् उदारता-अहिंसादयः गुणाः मानवं पुरोहितरूपे परिवर्तयन्ति स्थापयन्ति च। तद्यथा-

अनृशंसाः सत्यवाक्या अकुसीदा अथर्जवः।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः।
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते स पुरोहित उच्यते।[६]

पुरोहितः अर्थात् यो हितं पूर्वमेव, प्रथममेव, आदावेव पश्यति, विचारयति, धारयति च। मानवजीवनस्य प्रधानतममुद्देश्यं निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलमन्तःकरणमात्मानञ्च सम्पादयन् अकामकर्मभिः परमार्थप्राप्तिः। परमार्थस्य दिशमवबोधयन् महाभारतकारः कथयति- **अहिंसकः, सत्यपालकः, शुद्धवित्तः, सरलः,**[७]

---

[५] गीता १४.१६ शाङ्करभाष्यम्।

[६] शान्तिपर्व७९.४,५

[७] तदेव ७९.२१ सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।

द्रोहरहितः,[८] **निरभिमानी, सहनशीलः, संयमिजनः** जीवने सुखमाप्नोति। शान्तिपर्वणि त्रिषष्ट्यधिकशततमेऽध्याये कामक्रोधादीनां त्रयोदशदोषाणां निरूपणं विधाय तेषां दोषाणां निवारणोपायाः निर्दिष्टाः। गीतायाः षोडशतमेऽध्याये भगवता कृष्णेन **दैवीसम्पत्** निर्दिष्टा। तत्र-

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। चैते गुणाः जनं दोषैः मोक्षयन्परमार्थसोपानमारोहयन्ति इतिविज्ञापितम्। परमार्थप्रधानाय जीवनायातीवसरलं सूत्रं सूत्रितं सहजस्वान्तेन साधुना हिन्दीभाषायाम्-

चाह गई चिन्ता मिटी मनवा बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिए वे शाहन के शाह।

मण्डलब्राह्मणोपनिषदि समीचीनमुक्तम्- **यस्य सङ्कल्पनाशः स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता।**[९] सङ्कल्पेनात्र कामना, इच्छार्थोऽभिप्रेतः।

परमार्थावाप्तेः अस्मिन् प्रसङ्गे यक्षप्रश्नोऽयमुदेति यदुद्देश्यं तु उद्दिष्टं किन्तु अस्य क्रियान्वयनं केन प्रकारेण कुर्याज्जनः। अथ च संसारदावदहनेन दन्दह्यमानो देहो देही च दावाग्निनानेन निर्दहनं कथमाप्नुयात्, उत्तररूपेण कथयितुं शक्यते– शास्त्राण्यधीत्य, विश्लेष्य,

---

[८] तदेव १६२.२१ अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनम्।

[९] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् २.३ अपि च-सङ्कल्पादिकं मनो बन्धहेतुः। तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति। (तदेव २.४)। अथ च ब्रह्मबिन्दूपनिषदि प्रथमःश्लोकः - मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्।

आलोच्य, आलोड्य, विचार्य, अवधार्य च। शास्त्रेषु वर्णितान् विधीन् आदाय एकः प्रश्नः यदा कदाचित् चित्ते आयाति यदनेन विधानेन एवं फलं लभते, लोभरहितो भवति, पूर्णकामो जायते, परमं पदं प्राप्नोति कर्ता, इत्थं विधानं तु शास्त्रेषु सर्वत्र विहितं किन्तु कथितस्य विधेः व्यवहारे, कर्मणि, क्रियारूपे विनियमनं कथं स्यात्, अयं बोधः न पठनेन, न च श्रवणेन, नापि च स्मरणेन भवति। विधयस्तु विस्तरेण वर्णिता वर्तन्ते विद्वद्भिः विपश्चद्भिः विविधेषु वैदिक-लौकिकविधानेषु। यथा-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।[१०]

इत आरभ्य-

आत्मौपम्येनसर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।[११]

उपदेशोऽयं सर्वथा ग्राह्यो, मान्यो, धार्यश्च वर्तते, नास्त्यत्र संशीतिलेशोऽपि। परं केन विधिना इमां परमामवस्थां साधकः समुपलभेत इति विशिष्टा विचिकित्सा अवशिष्टा भवति तत्र। एतादृशेषु नैकेषु स्थलेषु तत्सूत्रं तद्विधिः कथं न स्पष्टीकृतं लेखकैः, प्रादुर्भूतायामस्यां जिज्ञासायां निरुक्तकारस्य समाधानं दृष्टिपथमायाति, तद्यथा- **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्वग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्निषुः।**[१२] आचार्यवरेण यास्केनात्रैका ज्ञानपरम्परा निर्दिष्टा, (गीतोपदेशविषये तु अयमपि लाभो यत्तत्र स्पष्टाया अस्पष्टायाः संभावना न्यूनैवासीत् यतो हि

---

[१०] गीता ६.५

[११] तदेव ६.३२

[१२] निरुक्तम् १.२०

वक्ता श्रोता च अभिमुखमेवास्ताम्)। निरुक्तक्रमं विमृशामश्चेदध्येतृणां योग्यता क्रमशः क्षीणा जाता, अध्यात्मविषये तु प्रायशः समाप्तैव। साम्प्रतिकस्य संसारस्य स्थितिः तु सर्वथा सांसारिकी, प्रायशः जनाः सर्वात्मना सुखसंसाधनमानसम्मानार्जननिरता एव जीवनं यापयन्ति, समापयन्ति च। धर्मनाम्ना किमपि चिन्तनं भवत्यपि परम् आध्यात्मविषयकम्, आत्मविषयकं वा चिन्तनं विरलमेव। जगतो जनसङ्ख्यां निभालयामश्चेदत्र कति जना अध्यात्ममार्गमार्गणे नितरां तत्पराः, कनिष्ठिकायामेव सा सङ्ख्या अवसिता तिष्ठति। अतः शास्त्राणाम् एतादृशेषु स्थलेषु न शास्त्रकारस्य कोऽपि दोषः, अस्माकं निष्ठा यस्मिन् विषये यथा यावती भवति तथैव तावती प्राप्तिरिति प्राकृतिको नियमः। योगदर्शनकारस्य मुनेः पतञ्जलेः मतमत्र प्रमाणभूतं प्रेरणाप्रदञ्च प्रतिभाति पठकानां पाठकानां कृते। उक्तञ्च तेन- **तीव्रसंवेगानामासन्नः।**[१३]

परमार्थपराय जीवनाय गीताकारेण सप्तविंशतिः गुणगणाः परिगणिताः। तेषु प्रथमतया आयाति- **अभयम्।** अहिंसक एव अभयो भवितुमर्हति। योऽन्यान् मनसा, वाचा, कर्मणा न भाययति स एव अभयत्वमाप्नोति। अथ च शुद्धतया व्यवहरति, आत्मनः ज्ञानं वर्धयति, परच्छिद्रान् न पश्यति। सत्य-स्वाध्याय-मृदुता-एकाग्रतादिगुणान् धारयति, एतादृशः तापसः क्रमशः योगमार्गे वृद्धिमुपैति। योगदर्शनं तथाविधो ग्रन्थो ग्रथितो मुनिना यत्र साक्षात् फलमपि विधयोऽपि अर्थात् कार्यकारणद्वयमपि निर्दिष्टमाचार्येण। यथा-**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।**[१४] सूत्रस्यास्य व्याख्याने तपसः, स्वाध्यायस्य, ईश्वरप्रणिधानस्य स्वरूपम् आवश्यकताञ्च तापसाय प्रतिपादयता भगवता

---

[१३] योगदर्शनम् १.२१

[१४] तदेव २.१

भाष्यकारेण व्यासेनावादि- **नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्, तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते। स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।**[१५] वस्तुतस्तु आदित एव पतञ्जलिमुनिना परमार्थप्रधानां, कैवल्यपरां जीवनपद्धतिं ज्ञापयता सर्वेषां साधकानां साधनामार्गे संभाव्यमानानामपायानां तथा तेषां निराकरणाय क्रियमाणानामुपायानां निर्देशनं सुविस्तरेण विहितम्।[१६] यो जनः सर्वथा लौकिके जीवने, तर्काधारिते विषय एव विश्वसिति, **अहिंसा** तस्यापि कृते अपरिहार्या। परमार्थपरेषु वैदिकसाधनाविधिषु तु अहिंसायाः महन्महत्त्वमुदीरितम्,[१७] तद्यथा- **तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातकरणायैवोपादीयन्ते।**[१८] महाभारतमपि सन्दिशति- **अहिंस्रः सर्वभूतानाम्।**[१९] किं स्वरूपं अहिंसायाः, या खलु परमार्थप्राप्तये प्रधानतमं प्रत्ययम्। (Monier

---

[१५] तदेव २.१ सूत्रस्य भाष्यम्

[१६]योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः १.१ सूत्रेऽस्मिन् को योग इति ज्ञापितम्। चित्तवृत्तिनिरोधेन को लाभो योगिने, कथयति- तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। अथ च येषां चित्तवृत्तयो निरुद्धाः न भवन्ति, तेषा का स्थितिः, तत्रोक्तम्-वृत्तिसारुप्यमितरत्र(१.४)। एवमेव सम्पूर्णा कृतिरियमनुपमासाधनासोपानसाधिका साधकाय।

[१७] शान्तिपर्व ३५.३७ अहिंस्रः मन्दकोऽजल्पो मुच्यते सर्वकिल्विषैः। (ख) तदेव ७९.६ अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति।

[१८] योगदर्शनम् २.३० सूत्रस्य भाष्यम्।

[१९] शान्तिपर्व २३६.३९

Williamऽ हेतुपदं विशदीकुर्वता प्रत्ययस्यार्थः करोति (primary cause) हरिहरानन्द-अरण्यवर्याः का अहिंसेति ज्ञापयन् लिखन्ति- **श्रुति कहती है – मा हिंस्यात् सर्वा (सर्वाणि) भूतानि**। केवल प्राणिपीड़ा को त्यागना ही अहिंसा नहीं है, परन्तु प्राणियों के प्रति मैत्री आदि सद्भाव का पोषण भी है। सर्वथा बाह्यविषयक स्वार्थपरता न त्यागने से अहिंसा का आचरण संभव नहीं होता। दूसरे के मांस से अपने शरीर के पोषण-तोषण की इच्छा हिंसा का प्रधान निदान है और यह निश्चित है कि बाहरी सुख खोजने से दूसरों को पीड़ा देना अवश्यंभावी होता है। अन्यों को डराना, परुष वाक्यों से मर्म छेदना इत्यादि सभी कर्म हिंसा हैं। सत्यादि द्वारा लोभद्वेषादिस्वार्थपरतामूलक वृत्तियां क्षीण होती रहती हैं, इसलिए अन्य सब यम तथा नियमों का अनुष्ठान अहिंसा को ही निर्मल करता है।[२०] न केवलमन्येषां प्राणिनां मनसा, वाचा, कर्मणा कष्टप्रदानं हिंसा अपितु नैजैः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याहङ्कारादिविकारैः जाता हानिरपिहिंसा, यस्याः प्रत्यक्षमनुभूतिश्च सर्वैः क्रियत एव। अत्याहारोऽपि हिंसा, निराहारोऽपि पुरुषो हिंसको मतः। यथायं स्वकीयां हिंसां करोति तथैव समाजायापि हिंसाप्रदं भवति अतिपरस्य तापसस्याचरणम्। ईर्ष्यालुरपि समाजस्य स्वस्य च महतीं हिंसां कुरुते। समाजे धार्मिका अपि, विद्वांस अपि ईर्ष्या-अहङ्कारादिविकारैः अभिभूयमाना अवलोक्यन्ते, अतः सूक्ष्मतया विचार्यमाणे तेऽपि हिंसकाः। विश्वस्मिन् विश्वे व्याप्तानां विविधानाम् आधिव्याधीनां हिंसापि अन्यतमं कारणम्।

परमार्थस्य तपस आधारभूताम्[२१] अहिंसां कथं धारयेज्जनः?

---

[२०] पातञ्जलयोगदर्शनम्, श्रीमत् हरिहरानन्द-आरण्यः, पृ. २४४। मोतीलाल बनारसीदास, आठवां पुनर्मुद्रण, दिल्ली २०१४.

[२१] शान्तिपर्व ७९.१८ अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा (कारुण्यम्, करुणा, घृणा,

ईशावास्योपनिषद् दृशा समाधानमस्ति – **यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।**[२२] परमात्मानं जानन् अनुभवन् पुरुषः सर्वत्र अर्थात् चराचरात्मके आत्मानमनुभवति, स्व-परभेदेन विरहित आत्मा अखिले ब्रह्माण्डे अखण्डतामेकतामवलोकयति। अतः स न कमपि हिंसति, यो हि आत्मना, अन्तःकरणेन, वपुषा चराचरात्मकं प्रेम्णा विलोकयति व्यवहरति च तस्यापि प्रियं करोति प्रकृतिः। तथ्यमेवोक्तम्- **यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।**[२३] अर्थात्सङ्कुचिते स्वान्ते सुखसम्भावनापि स्वल्पा सञ्जायते, अपरिमिते अपरिमित आनन्दाकूपारः प्रवहति। परिणामरूपेण मोहात् शोकात् च निर्गच्छन्परं पारं प्रयाति प्रणिधानपरः। परमात्मनः व्याप्तौ निर्विकारतैव हेतुभूता। अपरतश्च परमात्मस्वरूपमजानन् जनः प्रियजनवियोगकाले मोहकारणात् शोकसागरे निमज्जति, अर्जुनमुदाहरणरूपेण प्रस्तूयता गीताकारेण सम्यगुद्बोधिताः लोकाः मोहजन्येन दुष्परिणामेण। मोहतमसावृत अर्जुनः-

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शास्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।
एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।[२४]

कृपा, दया)। एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम्।

[२२] ईशावास्योपनिषद् ७तमः मन्त्रः।

[२३] छान्दोग्योपनिषद् ७.२३.१

[२४] गीता १.३०,४६,४७

एतावान् विषण्ण उद्विग्नः आकुलश्चासीत्, स अर्जुनः तस्मिन्नेव रणशिरसि तमेव स्वसखास्वरूपं गुरुं कृष्णं विनिर्गते मोहान्धकारे अवाप्ते ज्ञानचक्षुषी निवेदयति-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रासादान् मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।[२५]

प्रकरणेनानेन ज्ञायते यदि मोहो महद्दुःखस्य कारणम् किन्तु यदि परमेशकृपया कस्यापि पुण्यपुरुषस्य केनापि विधिना मोहनिवृत्तिर्जायेत तदा स उत्तमं सुखं निर्भारताञ्चानुभवति।

प्रकरणेऽस्मिन् **द्वितीयाद् वै भयं जायते**[२६] इति यदुच्यते तद् विचारणीयं खलु। विचारवान् जनो यदा हिंसारहितो भवति तदा विगतभयोऽपि जायते। अवधेयमत्र **विवेकी, प्रज्ञावान्, मननशील** एव हिंसाकर्मभिः विरतस्तिष्ठति न तु अविवेकी। खलास्तु निष्कारणमपि विनोदार्थमपि व्यथन्ति विश्वम्। यतो हि चौराः, अन्यायिनः, व्यभिचारिणः, स्वार्थसंलग्नाः अविवेकिनः मानवाः लोके कदाचित् निर्भयास्तु दृश्यन्ते, अभया तु नैव भवितुमर्हन्ति ते। परमार्थप्रधानां जीवनपद्धतिमनुस्रियमाणा अभयं लभन्ते, यतो हि निर्भयत्वं अन्तःकरणस्य योग्यता परम् अभयता आत्मनो गुणः। मनसि कदाचित् विकृतिर्जायेत सज्जनस्यापि किन्तु आत्मनि समायाता सम्पद् सरलतया वैपरीत्यं नैव भजते। मानवः कथमनुभवेत् अखण्डे ब्रह्माण्डे भ्रातृभावनाम्? परमात्मनः पावनीं प्रेमपरम्पराम्? उच्यते। विपश्चिद्भिः मनीषीभिः स्वानुभूतिभिरवाप्तममृतमस्माकं शरणम्। योगदर्शनस्य साधनाभिधेयो द्वितीयः पादः सर्वेषां साधनाप्रवेशोत्सुकानां सामान्यानां सामाजिकानां

---

[२५] तदेव १८.७३

[२६] बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.२

साधकानाञ्च कृते कृतः आचार्येण। तत्रादौ तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग इति सूत्रं समुपस्थापयता तेन प्रबोधिताः तापसाः यज्जन्मजन्मान्तरैः दृढीभूतानां वासनानां विकाराणां भेदनाय छेदनाय निरसनाय अपाकरणाय तपः आवश्यकम्। तप अर्थात् संयमः, जागरूकता। तप इदं वाचा, मनसा, कर्मणा विधेयम्। असत्यं, पारुष्यम्, वाचालतादयः वाङ्मलाः वाक्तपसा दूरीभवन्ति। कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याहङ्कारभयादीनि जागरूकेण स्वान्तेन, स्वाध्यायेन चापाकर्तुं शक्यन्ते। ईश्वरप्रणिधानं तु सर्वासां साधनानां शिरस्थानीयमेव। गीतामते ज्ञानेन- स्वाध्यायेन, ईश्वरप्रणिधानेन च अपुनरावृत्तिमवाप्नोति जनः।[२७] योगदर्शनकारमते तु केवलम् ईश्वरप्रणिधानेनापि समाधिसिद्धिर्भवितुमर्हति।[२८] ईश्वरप्रणिधानेन स्वरूपाधिगमः कथं भवतीति ज्ञापयति हरिहरानन्द-आरण्यमहाभागाः- **ईश्वर अविद्यादिशून्य, स्वरूपस्थ, चित्प्रतिष्ठ है, ऐसी भावना करते करते इन वाक्यार्थों का प्रकृत बोध होता है। स्वसंवेद्य पदार्थ का प्रकृत बोध होने का अर्थ है- स्वयं वैसा हो जाना।**[२९] महाभारतकारेण ईश्वरप्रणिधानेनाधिगतपरमार्थानां विषये निगदितम्- **परमात्मानमासाद्य तद्भूतायतनामलाः। अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्तन्ति वा प्रभो। परमा सा गतिः पार्थ निर्द्वन्द्वानां महात्मनाम्। सत्यार्जवरतानां वै सर्वभूतदयावताम्।**[३०]

---

[२७] गीता ५.१७

[२८] योगदर्शनम् २.४५ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्

[२९] पातञ्जलयोगदर्शनम्, पृ. ९० (२९(९)

[३०] शान्तिपर्व ३०१.७८,७९ (ख) समीचीनमभिहितं भगवता व्यासेन-निर्ममश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः। नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृता भाषते गिरः। आक्रुष्टस्ताडितश्चैव मैत्रेण

क्रियायोगः सम्यगाचरितम्भवति चेदनेन समाधिलाभो भवति, जीवानां जन्ममृत्योराधारभूताः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्याः क्लेशाः क्षीणतामायान्ति। अस्मिता अर्थात् अहं विद्वान्, शक्तिमान् एवम् अहंता,[३१] रागेणाशयो विद्यते- सुखस्य रागस्य अनुशयः अर्थात् संस्काररूपेण स्थितिः, लोभवशेन, तृष्णाभिभूतेन मनसा विषयप्राप्तेरभिलाषा[३२]। विगतदुःखेषु, दुःखकारणेषु पौनःपुन्येन स्मृतिपूर्वकं प्रतिघातेच्छा, मन्युः, हन्तुमिच्छा, क्रोधो वा द्वेषः[३३]। ज्ञानिष्वज्ञानिषु समानरूपेण विद्यमानं मरणभयम् अभिनिवेशः। एते चत्वारः क्लेशा अविद्याक्लेशकारणाद् जायन्ते।[३४] जगत्यां जगति

ध्याति नाशुभम्। वाग्दण्डकर्ममनसां त्रयाणां च निवर्तकः। समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माणमभिवर्तते। नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः। तदेव २३६.३४,३५,३६।

[३१] तदेव १३.४ अस्मिता तु साक्षात् मृत्युरेव। द्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्। ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्।

[३२] हरिहरानन्दवर्यैः बहूपयोगि ग्राह्यञ्चोक्तं रागं विवेचयता- राग होने पर बिना वश के अथावा बिना जाने ही इच्छा, इन्द्रिय तथा विषय की ओर चली जाती है। इच्छा को ज्ञानपूर्वक संयत करने का सामर्थ्य नहीं रहती है। अतः राग अज्ञान या विपरीत ज्ञान है। इसी से आत्मा इन्द्रिय तथा विषय के साथ सम्बद्ध होता है। अनात्मभूत इन्द्रिय में स्थित सुख संस्कार के साथ निर्लिप्त आत्मा की आबद्धता का ज्ञान ही विपरीत ज्ञान है। इसके अतिरिक्त बुरे को भला समझना भी राग का स्वभाव है। (द्र. सुखानुशयी रागः २.७ सूत्रस्य व्याख्या)

[३३] योगदर्शनम् २.८ सूत्रस्य व्यासभाष्यम्

[३४] तदेव २.४ अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। अविद्या के चारों लक्षणों में से अनित्य में नित्यज्ञान अभिनिवेश क्लेश में प्रधान है, अशुचि में शुचिज्ञान राग में प्रधान है, दुःख में सुखज्ञान द्वेष में प्रधान है क्योंकि द्वेष दुःखविशेष होने पर भी द्वेषकाल में वह सुखकर लगता है, और अनात्मा में आत्मज्ञान अस्मिता क्लेश में प्रधान होता है। (हरिहरानन्द-आरण्य, पृ. १५४)।

नित्यत्वविचारः, अशुचिषु सांसारिकपदार्थेषु शुद्धवद् व्यवहारः, उपयोगाय प्रदत्तेषूपकरणेषु आत्मवद् वर्त्तनम् **अविद्येति** कथिता।

मानवस्य समेषां क्लेशानां बन्धनानां मूलभूतामिमामविद्यां निवारणाय यमा, नियमाः, उपवासाः, जपाः, व्रतानि, तपांसि अनुष्ठीयन्ते।[३५] स्वाध्यायः तेषु अन्यतमः। मोक्षाभिमुखानां ग्रन्थानामध्ययनं, मननं प्रणवजपश्च स्वाध्यायः। स्वस्य अर्थात् आत्मनः अध्ययनम्, विकाराणां, मलानां ध्यानेन, प्रेम्णा च निरीक्षणमङ्गीकरणमपाकरणञ्च स्वाध्यायस्य फलं बोध्यम्। स्वाध्यायान्मा प्रमदः[३६] तपःस्वाध्यायनिरतं[३७] स्वाध्यायाभ्यसनम्[३८] प्रभृतिभिः भूयो भूयो दत्ताः स्वाध्यायनिर्देशाः निर्दिशन्ति कामपि सुखविधानात्मिकां विशिष्टां विधां यया अविद्यायाः पारं याति स्वाध्यायशीलः। अनेनैव विद्याविद्ये उभे ज्ञातव्य इत्युपदिशति ऋषिः।[३९] विद-सत्तायाम्, विद-ज्ञाने, विद-विचारणे, विद्लृ-लाभे, विद-चेतनाख्याननिवासेषु एभिः पञ्चधातुभिः विद्यापदस्य निष्पत्तिर्जायते। धातूनामध्ययनेन ज्ञानपरा, अस्तित्वमूला, विवेकप्रधाना, उत्कर्षप्रदा, चैतन्ययुक्ता विद्येति ज्ञायते। अत एव विद्ययामृतमश्नुते, सा विद्या या विमुक्तये यदुच्यते तत् यथार्थमेव। आजीविकार्जनाय यत्किञ्चिदपि पठ्यते, शिक्ष्यते तद्विद्या न। विद्या तु अमृतं ददाति। **अमृतम्** न मृतम् अर्थात् मृत्युहेतुभूताः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याहङ्कारादयः यत्र न सन्ति, या समस्तैः विकारैः, बन्धनैः मोचयति सा विद्या। अमृतं

[३५] गीता ४.३७ ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते

[३६] तैत्तिरीयोपनिषद्

[३७] बाल्मीकिरामायणम् १.१.१

[३८] गीता १७.१५

[३९] ईशावास्योपनिषद् १.१

यस्मिन् कस्मिन्नपि पात्रे दातुं न शक्यते, तत्कृते तु स्वच्छं पात्रमपेक्षितम्भवति। अनेनैव पुरातने काले **अधिकारिणे, सुपात्राय वा** विद्या प्रदानस्य परम्परा प्राप्यते। आचार्यः चरकः कथयति-

अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमेवादितः परीक्षेत, तद्यथा- प्रशान्तमार्यप्रकृतिकमक्षुद्रकर्माणम्... धृतिमन्तमनहङ्कृतं मेधाविनं वितर्कस्मृतिसम्पन्नमुदारसत्त्वं...सर्वभूतहितैषिणमाचार्यसर्वानुशिष्टिकरम नुरक्तं च, एवं गुणसमुदितमध्याप्यमाहुः।[४०] अध्यात्मग्रन्थेषु, दर्शनशास्त्रेषु च अधिकारी-अनधिकारीविषयो विशेषतो विमृष्टः। एवमधिकारिणा जिज्ञासुना अवाप्ता विद्या, सुगृहीतं ज्ञानं वा साधकम् अखिलैः क्लेशैः नितान्तं विमोचयति।[४१] अमृतप्रदां, मुक्तिदायिनीं विद्यां विज्ञाय विपश्चिद् विश्वे जागरूकतया व्यवहरति। जीवनम् उत्सवेन, उत्साहेन, ऊर्जया, प्रेम्णा, आनन्देन च सिञ्चति।

अध्ययनेनानेन स्फुटीभवति यद्यदापर्यन्तं हिंसा, भयम्, अहङ्कारः, अपेक्षा, ईर्ष्यादयो दोषाः मानवे विद्यन्ते तदा पर्यन्तं शान्तस्य स्वान्तस्य अभिलाषा मृगमरीचिकैव। शुद्धेन अन्तःकरणेन पौनःपुन्येन कृतः स्वाध्यायः, आत्मनिरीक्षणम्, ईश्वरप्रणिधानं च उपायत्वेन निर्दिष्टः आत्मतत्त्वदर्शिभिः। अनेन विधिना साधकः क्रमशः विशुद्धां विद्यामधिगच्छति। क्रियायोगेन च शनैः शनैः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनेवेशाभिधेयाः क्लेशाः छिन्नाः जायन्ते। जगति जागरूकतया जीवन्तापसः परमार्थपदवीमारोहति। जीवनस्य

---

[४०] चरकसंहिता, विमानस्थानम् ८.८

[४१] शान्तिपर्व २११.१७ बीजान्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः।

सौरभमनुभवति साधकः। विकारतापतप्ता अन्या अपि अस्य विशुद्धात्मनो वटवृक्षस्य सान्द्रछायायां विश्राम्यन्ति। एवम् अहिंसापूर्णा, अभययुक्ता, अपेक्षारहिता, विद्याभूषिता, अहङ्कारमुक्ता, कल्मषविमुक्ता, सुखसंवलिता, आनन्दसंयुता जीवनप्रणाल्येव परमार्थप्रधाना जीवनपद्धतिः ज्ञेया।

शिक्षापद्धतिः - पाणिनिव्याकरणशास्त्रस्य परिप्रेक्ष्ये

डॉ. अभिमन्युः[१]

भारतीयप्राचीनाऽऽचार्याणां सूक्ष्मचिन्तस्याद्भुतप्रतिभायाः निदर्शकमिदं शब्दानुशासनम् शास्त्रम्। पाणिनिना स्वेन एकाग्रमनसा, सारग्राहिबुद्ध्या, समन्वयात्मकदृष्ट्या सूत्ररचनाप्रावीण्येन च निर्मितमिदं व्याकरणशास्त्रं जगति सर्वत्र समादृतमभवदिति विद्वांसः मन्वते- पाणिनीयं महत् सुविहितम्।[२] आकुमारं यशः पाणिनेः।[३] शब्दप्रादुर्भावः प्रकाशता शब्दस्य इतिपाणिनिः, तत् पाणिनिः– पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशतेति।[४] परवर्तिकाले कात्यायनेन स्ववार्तिकैः पतञ्जलिना च स्वसमीक्षात्मकभाष्येण न केवलं पाणिनिव्याकरणं परिपोषितमपितु एते वैयाकरणसमवाये 'त्रिमुनिव्याकरणम्' इति विरूदेन विभूषिताः सञ्जाताः। अनल्पमतिना आचार्येण तत्कालीनभाषायाः सूक्ष्मचिन्तनं मानवजीवनस्य

---

[१] **सहाचार्यः, संस्कृत-विभागः, कलासंकायः, बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालयः, वाराणसी**

[२] महाभाष्य, ३/२/३

[३] तदैव, १/४/८९

[४] काशिका, २/१/६

च सर्वविधव्यवहाराणां निरीक्षणं विधाय शब्दानुशासनं न केवलं संस्कृतभाषायाः नियामकं ग्रन्थम् अपितु तत्कालीन-भारतीयजीवन-संस्कृतेश्च कोशं निर्मापितवान्। पाणिनिव्याकरणस्याध्ययनेन प्राचीनवैदिकशिक्षाप्रणाल्या ज्ञानं विशदतया भवति। अतोऽहमत्र व्याकरणशास्त्रमुपलक्ष्यीकृत्य तत्कालीनशिक्षायाः स्वरूपमुद्देश्यञ्च संक्षिप्ततया वितनोमि।

शिक्षायाः आधारभूमिः -

शिक्षायाः मूलाधारः ब्रह्मचर्यप्रणालिरासीत्। काशिकाकारस्य मन्तव्यमस्ति यत्- ब्रह्म वेदः, तदध्ययनार्थं यद् व्रतं तदपि ब्रह्म, तच्चरति इति ब्रह्मचारी।[५] ब्रह्मचारी 'चरण' नामकसंस्थायाम् अन्यैः ब्रह्मचारिभिः साकं विद्याध्ययनं करोति स्म।[६] ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यकुलस्य ब्रह्मचारी 'वर्णी' इति पदेनाभिहितो भवति। स एव विद्याग्रहणार्थमुपनीतः भवति स्म।[७] यथा एकस्मात् गुरोः अध्ययनात् छात्रः सतीर्थ्यः तथैव समानं व्रतं = ब्रह्मचर्यं आचरन् वेदं अधीयानश्च स ब्रह्मचारी भवति स्म। गुरुशिष्ययोः सम्बन्धः विद्यासम्बन्धः आसीत्। तौ परस्परं आयुक्तः आस्ताम्। सम्बन्धमिदं योनिकृत-सम्बन्धसदृशैव पवित्रं प्रभावपूर्णञ्चासीत्।[८] गुरुकुले प्रवेशानन्तरमेव उपनयनसंस्कारो भवति स्म। उपनयनस्यार्थः-आचार्यसमीपं प्रापणं आसीत्। इमां प्रक्रियां पाणिनिः 'आचार्यकरण' इति पदेन अभिधत्ते।[९] आचार्यकरणमितिपदं व्याख्यापयन् काशिकाकारः

---

[५] तदैव, ६/३/८६

[६] चरणे ब्रह्मचारिणि, अष्टाध्यायी, ६/३/८६

[७] ब्रह्मचारीति त्रैवर्णिकोऽभिप्रेतः। स हि विद्याग्रहणार्थमुपनीतो ब्रह्म चरति, नियमं आसेवत इत्यर्थः। ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा वर्णिनः इत्युच्यन्ते। का. ५/२/१३३

[८] विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः वुञ्। अष्टा. ४/३/७७

[९] सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः। तदैव, १/३/३६

कथयति - आचार्यकरणमाचार्यक्रिया, माणवकमिद्दशेन विधिना आत्मसमीपं प्रापयति येन स उपनेता स्वयमाचार्यः सम्पद्यते। माणवकमुपनयते- आत्मानम् आचार्यीकुर्वन् माणवकमात्मसमीपं प्रापयति इत्यर्थः।[१०] संस्कारानन्तरमेव माणवकः आचार्यस्य साक्षात् सामीप्यं प्राप्नोति स्म। मनसा-वाचा-कर्मणा आचार्यमुपसङ्गम्य ब्रह्मचारी अन्तेवासीति अन्वितार्थपदवीं **द**धाति स्म।[११] 'अन्तेवासी' इति संज्ञातः पूर्वं सः माणवः दण्डमाणवश्च इति पदेनाभिहितो भवति। एष लघुकक्षायाः छात्रः आसीत्। गुरुकुलेषु आश्रमेषु च एष दण्डैन सहैव प्रचलति अतः दण्डमाणवः भवति।[१२] एते अनूचाः भवन्ति स्म अर्थात् अस्मिन्वयसि-वेदाध्ययनं न कुर्वन्ति स्म।[१३] आचार्यकरणेन ब्रह्मचारी अन्तेवासी भवति स्म।

छात्राणां कर्तव्यानि

गुरुरन्तेवासिच्छात्राणां कृते व्यवहारसम्बन्धि-नियमाः निर्धारिताः आसन्। संस्कारानन्तरं गुरुशिष्ययोः यो विद्या-सम्बन्धो भवति तेन परस्परं उपस्थानीयं भवति स्म अर्थात् शिष्यस्य कृते गुरुशुश्रूषा अध्ययनञ्च गुरोश्च कृते अन्तेवासिनम् आत्मसमीपम् आनीय शिक्षणम्।[१४] उभयोश्च कृते सम्बन्धोऽयं मधुरः भवति स्म। प्रत्येकं छात्रः गुरुमभिवदति स्म।[१५]

---

[१०] काशिका, १/३/३६

[११] (क) कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च। अष्टा. ४/३/१०४

(ख) न दण्डमाणवान्तेवासिषु। तदैव, ४/३/१३०

[१२] दण्डप्रधानः माणवः दण्डमाणवाः। का. ४/३/१३०

[१३] अनूचो माणवे बद्धचरणाख्यायामितिविशेषस्तद् वक्तव्यम्। महाभाष्य, ५/४/१५४ पर वार्तिक

[१४] उपस्थानीयोऽन्तेवासी गुरोः, उपस्थानीयः शिष्येण वा गुरुः। काशिका, ३/४/६८

[१५] अभिवदति गुरुं देवदत्तः। अभिवादयते गुरुं देवदत्तेन वा। तदैव, १/४/५३

भूमावेव शेते, खट्वाशयनं वर्जितमासीत्।[१६] स्नातको भूत्वैव खट्वाशयनं कर्तुमर्हति। यः कश्चिदपि नियममुल्लंघयति स व्रतहीनः भवति स्म। स्थण्डिलशायीति व्रतं संस्कारानन्तरमेव स्वीकुर्वन्ति स्म। गुरुकुले खट्वारोहणम् असम्भवमासीत्। अत एव खट्वारोहणस्य सामान्योऽर्थः विद्याम् असमाप्यैव गृहगमनम् अथवा विवाहकरणमासीत्।[१७] खट्वारूढः शब्दः निन्दार्थकः आसीत् तथा च काशिकाकाले विमार्गगामी इत्यस्य उपलक्षणमभवत् अन्यच्च सर्व एवाविनीतः खट्वारूढः इत्युच्यते।[१८] छात्राः गुरुशुश्रूषायां मानसिकसुखमनुभवन्ति स्म। गुरोः स्नापनं, पादोपसंग्रहणम् शिष्टभोजनञ्च गुरुशुश्रूषैवाऽऽसीत्। उच्छिष्टभोजनं पादोपसङ्ग्रहणञ्च परित्यज्य अवशिष्टापरिचर्या गुरुपुत्राणामपि करणीया भवति स्म। यदा गुरुपुत्रः गुरुः भवति तदा तु पादसंवाहनमुच्छिष्टभोजनञ्चोचितमेव प्रतीयते।[१९] छात्राः सम्यक्तया जानन्ति यत् गुरूः शुश्रूषया नः पारलौकिकसुखलाभः अन्यच्चात्र सेवया प्रीतः गुरुः नः श्रेष्ठतममध्यापयिष्यति।[२०] छात्राः सदैव कार्ये व्यापृताः आसन् तथा च कार्ये यदि अनवधानतावशात् काचित् त्रुटिः भवति तदा भर्त्सनाम् अपि

[१६] स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते। व्रतं इति शास्त्रियो नियम उच्यते। स्थण्डिले शयितुं व्रतमस्य, स्थण्डिलो ब्रह्मचारी। तदैव, ४/२/१५

[१७] अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽऽरोढव्या। य इदानीमतोऽन्यथाकरोति स उच्यते खट्वारूढ़ो जाल्मः। नातिव्रतवानिति। महाभाष्य, २/१/२६

[१८] खट्वारोहणं चेह विमार्गप्रस्थानस्योपलक्षणम्। सर्व एवाविनीत खट्वारूढ़ इत्युच्यते। काशिका, २/१/२६

[१९] गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रेऽपि वर्तितव्यमन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् पादोपसंग्रहणाच्च। यदि च गुरुपुत्रोऽपि, गुरुर्भवति तदपि कर्तव्यम् भवति। महाभाष्य, १/१/५६ परवार्तिक

[२०] ये तावदेते गुरुशुश्रूषवोनामैतेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते पारलौकिकं च नो भविष्यति। इह च नः प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यति इति। महाभाष्य, ३/१/२६

श्रृण्वन्ति स्म। एतादृशाः छात्राः गुरोरन्तर्धत्ते।[२१] अध्ययनं परिश्रमसाध्यं कष्टसाध्यञ्चासीत्। केचन छात्रा अध्ययनं दुर्धरं दुःखञ्च मत्वा मध्ये एव परित्यजन्ति। भाष्यकारः लिखति अध्ययनात् पराजयते। य एषः मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखमध्ययनं दुर्धरंञ्च गुरवश्च दुरुपचाराः इति। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते।[२२] तथापि कष्टम् अविगणय्य गुरुकुले वासः छात्राणां कर्तव्यमासीत्। यदि च कश्चित् छात्रः एकस्मिन् गुरुकुले चिरकालं यावत् न तिष्ठति, गुरुकुलात् गुरुकुलं पर्यटति स काक इव 'तीर्थध्वाङ्क्षः' भवति।[२३] अवतप्तेन कुलदृशैव स क्षेपार्थकः भवति। यथावतप्ते नकुले न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं कार्याण्यारभ्य यो न चिरं तिष्ठति स उच्यते- अवतप्ते नकुलस्थितं त एतद् इति।[२४]

पाठ्यक्रमः -

माणवः, दण्डमाणवः, ब्रह्मचारी, अन्तेवासी-संज्ञकाः छात्रवाचकाः शब्दानाम्, उपाध्यायः, प्रवक्ता, श्रोत्रियः, आचार्य-संज्ञकाः शब्दानामुपलब्धिर्भावात् अनुमीयते यत् एते शब्दाः निश्चप्रचम् छात्र-शिक्षकयोः क्रमिकपदयोः सूचकाः आसन्। एतदतिरिक्तं भाषायां बहुविधाः शब्दाः प्रचलिता आसन् येन अध्ययनस्य क्रमोऽनुमीयते।[२५] यथा अद्यत्वे कश्चिद् कौमुदी-पर्यन्तं व्याकरणं पठति अथवा महाभाष्यपर्यन्तं पठति

---

[२१] उपाध्यायादन्तर्धत्ते। पश्यत्यं यदिमामुपाध्यायं पश्यति ध्रुवं प्रेषणमुपालम्भोवा। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते। तदैव, १/४/२८

[२२] तदैव, १/४/२६

[२३] यथा तीर्थे काका चिरं न स्थातारो भवन्ति, एवं यो गुरूकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति, स उच्यते तीर्थकाक इति। तदैव, २/१/४१

[२४] तदैव, २/१/४६

[२५] ग्रन्थान्ताधिके च। अष्टा., ६/३/७९

उच्यते स कौमुद्यन्तं व्याकरणमधीते, महाभाष्यान्तं व्याकरणमधीते तथैव तस्मिन् कालेऽप्यासीत्। यथा सकलं समुहूर्तं ज्योतिषमधीते अर्थात् कला-प्रकरणपर्यन्तं मुहूर्तप्रकरणपर्यन्तं वा ज्योतिषमधीते। ससङ्ग्रहं व्याकरणमधीते - संग्रह-ग्रन्थपर्यन्तं व्याकरणमधीते। तथा च कस्यचित् विषयस्य अध्ययनसमाप्तिम् द्योतयितुं भाषायां विशिष्टाः शब्दाः आसन्। यथा- अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि. इति सूत्रे अन्तवचने- साग्नि अधीते अर्थात् अग्निग्रन्थावसानपर्यन्तमधीते।[२६]

'वृत्त' शब्दोऽपि अध्ययनावसानस्य सूचकः आसीत्।[२७] यथा- देवदत्तेन कुत्र पर्यन्तमधीतम्? वदति स- वृत्तो गुणो देवदत्तेन अर्थात् देवदत्तेन व्याकरणशास्त्रे गुणप्रकरणपर्यन्तं पठितम्। वृत्तं पारायणं देवदत्तेन- देवदत्तेन वैदिकपारायणं समाप्तं कृतम्। ऋतुनामानुसारि अपि पाठ्यक्रमस्य निर्धारणं भवति छात्रं तेनैव नाम्ना आह्वयन्त्यपि।[२८] यथा- वसन्तसहचरितोऽयं ग्रन्थः- वसन्तः तम् अधीते वासन्तिकः स भवति। वर्षर्तौ- वार्षिकः, हेमन्ते- हैमन्तिकः, शिशिरे- शैशिरिकः इति। प्रकरणेऽस्मिन् ग्रीष्मशब्दस्य अभावात् अनुमीयते यत् तस्मिन् कालेऽपि ग्रीष्मर्तौ अध्ययनावकाशः आसीत्। एवम् मासिकः, अर्धमासिकः, सांवत्सरिकः ब्रह्मचारी आदिभिः पदैर्ज्ञायते यत् कश्चित् छात्रः मासपर्यन्तम्, अर्धमासपर्यन्तं संवत्सरपर्यन्तं वा व्रतयति तस्य कृतेऽपि पाठ्यक्रमः निर्धारितः आसीत्।[२९] यथा अद्यत्वे short term course

---

[२६] तदैव, २/१/६

[२७] णेरध्ययने वृत्तम्। तदैव, ७/२/२६

[२८] वसन्तादिभ्यष्ठक्। तदैव, ४/२/६३

[२९] तदस्य ब्रह्मचर्यम्। तदैव, ५/१/९४

भवति। कात्यायनेन महानाम्न्यः ऋचः तत् सहचरितं व्रतं तच्छब्देन उच्यते महानाम्नीश्चरति- महानाम्निकम्, आदित्यव्रतिकम् अर्थात् महानाम्न्यो नामर्चः पर्यन्तं यः व्रतयति। आदित्यव्रतं साम तद् पर्यन्तं यः व्रतयति स आदित्यव्रतिकः भवति। आदिपदानामपि उल्लेखं कृतवान्।[३०] विषयस्य कण्ठस्थीकरणं यद्यपि तत्कालीनशिक्षाप्रणाल्या आवश्यकमङ्गमासीत् किन्तु ज्ञानपूर्वकं कण्ठस्थीकरणमेव विशेषेणोपादीयते। वेदशब्दाः नियमपूर्वकमधीताः फलवन्तो भवन्ति। तथा च यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।[३१]

शिक्षोद्देश्यम् -

भाष्यदृष्ट्या अध्ययनस्य प्रमुखोद्देश्य-द्वयं प्रतीयते। एकं वेदरक्षा द्वितीयं बालकेषु शिष्टाचाराऽऽधानम्। पतञ्जलिर्मनुते यत् ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। वेदरक्षां विना व्याकरणमसम्भवम्। यः नास्ति वैयाकरणः सः वेदवित् भवितुं नार्हति। षडङ्गेषु च व्याकरणं प्रामुख्यं भजते अतः व्याकरणाध्ययनमावश्यकम्। पतञ्जलिरस्मिन् कर्मणि परम्परायाः प्रामाण्यमपि स्थापयति- यत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयते। अस्ति चान्यत् वेदरक्षातिरिक्तं व्याकरणस्याऽध्ययनस्य फलं तत्तेन पस्पशाह्निके विशदतया विवृतम् तत्रैव द्रष्टव्यम् इति। शिक्षायाः द्वितीयं लक्ष्यम् आसीत् बालकेषु शिष्टाचारस्याऽऽधानम्। भाष्यदृष्ट्या सम्प्रत्यपि च शिष्टाः समाजे सर्वोच्चं भजन्ते। त एव समाजस्य धुरीं धारयन्ति। शिष्टाः द्विविधा भवितुम् अर्हन्ति शिक्षातः चरित्रतश्च। शिक्षायाः मूलं व्याकरणज्ञानमासीत् अतः

---

[३०] तदस्य ब्रह्मचर्यमिति महानाम्न्यादिभ्यः उपसंख्यानम्। महाभाष्य, ५/१/९४ पर वार्तिक

[३१] तदैव, पस्पशाह्निकम्

वैयाकरणाः शिष्टा आसन् (सन्त्यपि)।[३२] शिष्टिः शास्त्रपूर्वकम् भवति शास्त्रञ्च व्याकरणम्। शिक्षातिरिक्तं निवासः आचारश्चापि शिष्टस्य लिङ्गत्वेनाभिधीयते स्म।[३३] अस्मिन् आर्यावर्तदेशे ये ब्राह्मणाः अपरिग्रहाः अलोलुपाः जितेन्द्रियः कस्याश्चित् विद्यायाः शास्त्रपारङ्गताः ते अपि शिष्टाः आसन्। त एव प्रमाणज्ञाः प्रामाणिकाश्च भवन्ति। भाष्यकारस्य सुस्पष्टमभिहितमस्ति यत् अष्टाध्यायी शिष्टज्ञानार्था अस्ति तदध्ययनेन च सः शिष्टाऽशिष्टयोः विवेकं कर्तुं पारयति इति।

एवं सुविदितमेवास्ति यत् शिक्षोद्देश्यं द्वयमेवास्ति- बौद्धिकविकासः नैतिकोन्नतिश्च। अनयोरेव प्राचीनसंस्कृतेर्साहित्यस्य च संरक्षणं सम्भवं विद्यते। अतोऽत्र समासतः निदर्शनमात्रमुल्लिखितं मया विशदतया तु आकरग्रन्थेषु[३४] द्रष्टव्यम् ।

---

[३२] के पुनः शिष्टाः ? वैयाकरणाः। कुत एतत्? शास्त्रपूर्विका हि शिष्टिः शिष्टिपूर्वकं च शास्त्रम्। तदैव, ६/३/१०९

[३३] एवं तर्हि निवासत आचारतश्च। एतस्मिन् आर्यावर्तनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्याः अलोलुपाः अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चित् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः। शिष्टज्ञानार्था अष्टाध्यायी। महाभाष्य, ६/३/१०९

[३४] (क) महाभाष्य - पतञ्जलि

(ख) काशिका- वामनजयादित्य

(ग) पाणिनिकालीन भारतवर्ष-वासुदेव शरणअग्रवाल

(घ) पतञ्जलिकालीन भारत- प्रभुदयालअग्निहोत्री

वैदिकोपासनायोगः

डॉ. अरुणिमा रानी[१]

वेदशब्दः ऋग्यजुसामाथर्वनामभिः प्रचलितानां चतसृणां वेदसंहितानां ज्ञापकः। वेदेषूपासनाविषयो मुख्यत्वेन प्रतिपाद्यते। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां दयानन्दर्षिणोक्तम् - तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? तत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति, ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।[२] वेदान्तदर्शनस्य 'तत्तु समन्वयात्'[३] इत्यस्य व्याख्यानावसरे लिखितम् - 'तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति, क्वचित् साक्षात् क्वचित् परम्परया च, अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति।' वेदेषु बहवः मन्त्राः सन्ति यत्र मुख्यरूपेण ब्रह्मविद्योपासनाविषयश्च निगदितः। वेदेषु बुद्धिविरुद्धः तर्कविरुद्धाः वार्ताः नैव कुत्रापि सन्ति। महर्षिणा कणादेन वैशेषिकदर्शनेऽभिहितम्- '**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**'[४]। वेदानां स्वतः प्रामाण्यं यतो हि वेदाः परमेश्वरस्य निजशक्त्या सामर्थ्येन प्रकटीभूता चतुर्णामृषीणां हृदये यस्मिन्

---

[१] **आचार्या, संस्कृतविभागे, एस.डी. महाविद्यालयस्य, मुजफ्फरनगरे**

[२] ऋग्वेदिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारः

[३] वेदान्तदर्शनम् १/१/४

[४] वैशेषिकदर्शनम् ६/१/१

विषये सांख्यदर्शनकारेण कपिलमुनिना सूत्रितम् - '**निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्।**'[५]

जीवात्मना परमेश्वरस्यैवोपासना कार्या। विद्वांस ईश्वरोपासकाः मेधाविनः योगिनः सर्वज्ञस्येश्वरस्यैव मध्ये मनः युक्तं कुर्वन्ति बुद्धिवृत्तीरपि तस्यैव मध्ये युंजते। सः परमेश्वरः विधर्ता वर्तते। इदं सर्वं जगत् तेनैव धारितम्। स एव सर्वेषां जीवानां शुभाशुभकर्मणां वेत्ता। स वयुनाविदेकोऽद्वितीयो वर्तते। सर्वजगत्प्रकाशकस्य सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः महती स्तुतिः कार्या। एवं भावमधिगम्य ऋग्वेदे एषा ऋग् वर्तते - '**युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।**

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥'[६]

ऋग्वेदस्यैवान्यैषा ऋग् वर्तते यत्रोपासनास्वरूपो दर्शितः - '**युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि।**'[७] अयमाशयः- (परितस्थुषः चरन्तम्) स्थावरजङ्.मात्मकं जगत् ज्ञातारं सर्वज्ञम् 'तस्थुषः' इति मनुष्यनामसु पठितम्;[८] (अरुषं ब्रध्नम्) अरुषम् अहिंसकं करुणामयं ब्रध्नं सर्वानन्दवर्धकं महान्तं परमेश्वरं 'ब्रध्न' इति महन्नामसु पठितम्'[९]; ईदृशं सर्वज्ञं करुणामयं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति योगिनः विद्वांसः। (रोचना) प्रकाशिताः भूत्वा ते योगिनः (दिवि) सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते।

---

[५] सांख्यदर्शनम् ५/५/१

[६] ऋग्वेदः अ. ४/अ० ४/ व० २४/ मं० १

[७] ऋग्वेदः १/१/११/१

[८] निघण्टुकोषः २/३

[९] निघण्टुकोषः ३/३

यजुर्वेदेऽपि वर्तन्ते बहवो मन्त्राः यत्रोपासनास्वरूपः प्रदर्शितः। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाया उपासनाप्रकरणे महर्षिणा दयानन्देन यजुर्वेदस्य मन्त्रा उद्धृताः। तेषामत्र क्रमेणाशयं प्रतिपादयाम ऋषिस्वरेण। प्रथमस्तावत् -

'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥'[१०]

मन्त्रेऽस्मिन् ऋषिवरः कथयति यत् परमेश्वरो योगं कुर्वाणःसन् तं स्वस्मिन् उपयुङ्क्ते। स च योगी 'अध्याभरत्' स्वात्मनि परमात्मानं धारयतीत्यर्थः। युंजानः मनुष्याः तत्त्वाय ब्रह्मज्ञानाय प्रथमं मनः युक्तं कुर्वन्ति परमात्मनि, तदा सविता परमेश्वरः तेषां धियं स्वात्मनि युनक्ति। ते योगिनः अग्नेः परमेश्वरस्य प्रकाशं निश्चित्य यथावत् धारयन्ति ऋषिवरदयानन्दोऽग्रे लिखति - **'इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणम्'**[११] इति वदितव्यम्।

द्वितीयमन्त्रस्याग्रे ऋषिवरोल्लिखति यत् सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः। मन्त्रस्तावत् - **'युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे स्वर्ग्याय शक्त्या।'**[१२] अयमाशयः - युक्तेन योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं देवस्य सवितुः सर्वानन्दप्रदेश्वरस्य सर्वे अनन्तैश्वर्याय उपयुंजीमहि।

एवंकृतेन योगाभ्यासेन सः परमेश्वरः मोक्षदानेन सदानन्दयति। मन्त्रस्तावत् -

'युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥'[१३]

---

[१०] यजुर्वेदः ११/१

[११] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - उपासनाविषयः

[१२] यजुर्वेदः ११/२

[१३] यजुर्वेदः ११/३

अयमाशयः - सविता परमेश्वरः शुद्धभावप्रेम्णा देवान् उपासकान् युक्त्वा धिया स्वकृपाधारवृत्या बृहज्ज्योतिः अनन्तप्रकाशं दिवं दिव्यं स्वरूपं प्रसुवाति प्रकाशयति। करिष्यतः करिष्यमाणानुपासकान् मोक्षदानेन सदानन्दयति। मन्त्रेऽस्मिन् ऋषिवरेण 'धिया' इति पदं परमेश्वरकृपार्थं कृतमेतद् विलक्षणम्।[१४]

अधुना उपासनोपदेष्टोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वर आज्ञापयति। मन्त्रस्तावत् -

'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥'[१५]

अयमाशयः - यदा तौ गुरुशिष्यौ पूर्व्यं पुरातनं सनातनं ब्रह्म नमोभिः नमस्कारैरुपासते तदा तद् ब्रह्म ताभ्यामाशीर्वादयति - (श्लोकः वि एतु) सत्यकीर्तिः व्याप्नोतु। उपमिमीतेऽत्र - (सूरेः पथ्येव) परमविदुषः योगिनः पथ्येव धर्ममार्ग इव। (अमृतस्य पुत्रा दिव्यानि धामानि आतस्थुः) ये अमृतस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य पुत्राः ते दिव्यानि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि धामानि जन्मानि स्थानानि वा तेषु स्थिराः भवन्ति (विश्वे वां श्रृण्वन्तु) ते सर्वेजनाः वां गुरुशिष्यौ द्वौ श्रृण्वन्तु। एवं प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं (युजे) कृपया समवेतो भवामीति एवं तेषामुपरि प्रभुकृपा वर्षति ये उपासनायाः ब्रह्मविद्याया उपदेष्टार उपासकाश्च भवन्ति।

उपासनास्वरूपप्रदानार्थं यजुर्वेदस्यैको मन्त्रो बहूपयोगी वर्तते।

मन्त्रस्तावत् -

---

[१४] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - उपासनाविषयः

[१५] यजुर्वेदः ११/५

'सीरा युजन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया।'[१६]

अयमाशयः - कवयो धीराः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा ध्यानवन्तो योगिनः मनुष्याः सीरा नाडीः युञ्जन्ति। अस्य मन्त्रस्य भाष्ये ऋषिवरेण लिखितम् - '**तासु अर्थात् नाडी परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति।**' इति विलक्षणार्थः।[१७] (युगा वितन्वते) योगयुक्तानि कर्माणि विस्तारयन्ति। (देवेषु सुम्नया युंजन्ति) ते विद्वत्सु योगिषु सुखेन परमानन्दं प्राप्नुवन्ति। मन्त्रेऽस्मिन् विशेषार्थो यत् उपासनाकरणेन नाड्यो योगाभ्यासोपासनार्थम् अभ्यस्ताः भवन्ति।

एवमुपासनाभ्यासेन योनौ आत्मनि उपासनाबीजं वपत इत्याशयमाधृत्यैषो मन्त्रः -

'युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सण्यः पक्वमेयात्।[१८]

अयमाशयः - युनक्त युक्ता भवत, वितनुध्वं मोक्षसुखं विस्तारयत, युगा योगयुक्तानि कर्माणि सीराः नाडीश्च उपासनाकर्मणि योजयत। एवं कृते योनौ शुद्धे कृते आत्मनि उपासनायाः बीजं वपत। (गिरा च युनक्त) वेदवाण्या युक्ता भवत। श्रुष्टिः शीघ्रं योगफलं नेदीयः अतिशयेन सन्निकृष्टम् अस्तु श्रुष्टीति क्षिप्रमाशु अष्टीति।[१९] कथंभूतं फलम्? पक्वं परिपक्वमानन्देन पूरितं मोक्षसुखेनाभिव्याप्तं पक्वं फलं प्राप्नुयात्।

---

[१६] यजुर्वेदः १२/६७

[१७] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - उपासनाविषयः

[१८] यजुर्वेदः १२/६८

[१९] निरुक्तम् - ६/१२

(इत्सृण्यः) एवम् उपासकानां वृत्तयः सृण्यः[२०] सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति। (सभराः) एताभिर्वृत्तिभिः सभराः शान्त्यामदिगुणपुष्टा परमात्मयोगं वितनुध्वम्। मन्त्रेऽस्मिन् प्रतिपादितम् ये मनुष्याः योगयुक्तानि कर्माणि कुर्वन्ति तेषां नाड्यो युक्ता भवन्ति। आत्मनि योगबीजं वपनं भवति। ते वेदवाण्या युक्ता भवन्ति। तेषां पार्श्वे योगफलं मोक्षानन्दं नेदीयोऽतिसमीपतरमेव वर्तते। तेषां वृत्तयः सर्वक्लेशहन्त्र्यो भवन्ति।

अथर्ववेदे मन्त्रान्ते '**त्वोपास्महे वयम्**' इति कृत्वा बहवो मन्त्राः सन्ति। एषां मन्त्राणामयं भावो यत् वयं सदैव तवैवोपासनं कुर्महे। मन्त्रस्तावत् - '**भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्।**'[२१] हे परमेश्वर! त्वं (शच्याः[२२] पतिरसि) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि (भूयान् अरात्याः) भूयान्निवारकोऽसि विभूः व्यापकः प्रभूः समर्थश्चासि एवंभूतं त्वां वयमुपास्महे।

'**अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्।**'[२३] हे परमेश्वर! 'अम्भः व्यापकम् अमः ज्ञानस्वरुपं महः महत्तरं सहः सहनस्वभावं त्वां ज्ञात्वा वयम् उपास्महे।

'**अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्।**'[२४] हे प्रभु!

---

[२०] द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च हन्ता च

[२१] अथर्ववेदः - १३/४/४७

[२२] निघण्टुकोषः १/११ शचीति वाचो नामसु पठितम्।
निघण्टुकोषः २/१ शचीति कर्मणां नामसु पठितम्।
निघण्टुकोषः ३/९ शचीति प्रजानामसु पठितम्

[२३] अथर्ववेदः - ५०

[२४] अथर्ववेदः - १३/४/५१

'अम्भः व्यापकं अरुणं प्रकाशस्वरूपं रजतं' रागविषयमानन्दस्वरूपं रजः सर्वलोकैश्वर्यसहितं सहः सहनशक्तिप्रदं त्वां वयमुपास्महे। ऋषिवरेण लिखितम् यत्- '**त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योऽर्थः कस्यचिदुपास्योऽस्तीति। एक एव ईश्वरः। स एवोपास्य इति।**

प्रभुगुणकीर्तनमग्रेऽपि वर्तते। मन्त्रस्तावत्-

'**उरुः पृथुः सुभूर्भुवः इति त्वोपास्महे वयम्।**'[२५]

उरुः सर्वशक्तिमान् पृथुः व्यापकः सुभूः सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः भुवः अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद् भुवः इति ज्ञात्वा वयं त्वामुपास्महे।

'**प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्।**'[२६]

सर्वजगत्प्रसारकः श्रेष्ठः सर्वं जगत् जानाति सर्वैः जनैः लोक्यते सर्वान् लोकयति वा ईदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वां वयमुपास्महे।

एवमीश्वरगुणकीर्तनेन स एवेश्वरः सच्चिदानन्दस्वरूपो निराकारः सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयालुरजन्मा अनन्तो निर्विकारानाद्यनुपमः सर्वाधारः सर्वेश्वरः सर्वव्यापकः सर्वान्तर्यामी अजरामराभयो नित्यः पवित्रः सृष्टिकर्ता च वर्तते स एव सर्वै उपास्य इति।

मित्रभावेन सखाभावेन वयमुपास्महे। यतो हि - '**सखा सख्युर्न प्रमिनाति संगिरम्।**'[२७] सखा सख्युः संगिरं याचनां न प्रमिनाति नश्यति हिनस्ति वा। एतदर्थमेव - '**देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे**'।[२८] देवाः विद्वांसो योगिनः परमेश्वरस्य सख्याय प्रयत्नवन्तो भवन्ति। सः परमेश्वरः

---

[२५] अथर्ववेदः - १३ /४/५२

[२६] अथर्ववेदः - १३/४/५३

[२७] ऋग्वेदः ९/८६/१६

[२८] ऋग्वेदः ८/९८/३

'**सखेव सख्ये पितरेव साधु।**'[२९] यथा पिता स्वसूनवे साधुर्भवति तथैव सः सखा परमात्मा सखायं योगिनं प्रति साधुर्भवति। एवं योगिनः सखात्वरूपेण जानन्ति तं परमेश्वरम्।

परमेश्वरस्योपासना द्विविधाऽस्ति। सगुणोपासनम्, निर्गुणोपासनं चेति। सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्तमानः सगुणः अविद्यादिक्लेशरहितत्वात् निर्गुणः। सः परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी सर्वाध्यक्षः, सच्चिदानन्दस्वरूपः, न्यायकारी, दयालुः, सर्वाधारः, सर्वेश्वरः, सर्वव्यापकः, सर्वान्तर्यामी चेत्यादिगुणैः सह वर्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्। तथा य सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः अव्रणः व्रणरहितः, निराकार आकाररहितः, अकायः शरीरसम्बन्धरहितः, रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञेयम्। एवं द्विविधोपासनया मोक्षानन्दं भवति। ऋषिवरदयानन्देन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां लिखितम्[३०] यत् ते मनुष्याः मूढाः सन्ति ये ईश्वरस्य देहधारणं देहत्यागश्च स्वीकुर्वन्ति। एषा कल्पना वेदविरुद्धा।

कठोपनिषदि उपासनास्वरूपः प्रदर्शित ऋषिणा-

'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्॥'[३१]

एषा परमा गतिः। एषैवोपासनायोगः। एषा स्थिरा इन्द्रियधारणा। यदा प्रज्ञाना बुद्धिर्जायते, न चेष्टां करोति बुद्धिः। ज्ञानेन्द्रियाणां सह मनोऽपि युक्तो भवति। मनोयोजनं बुद्धेरविचेष्टनमेव परमगतिरिति बोध्यम्।

---

[२९] ऋग्वेदः ३/१८/१

[३०] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - उपासनाविषयः

[३१] कठोपनिषद् - २/३/१०, ११

सांख्यकारेणोक्तम् - '**ध्यानं निर्विषयं मनः**'[३२] मनसः निर्विषयत्वमेव ध्यानयोग उपासनायोगः परमगतिरिति। योगैश्वर्यप्राप्त्यर्थं शरीरसंयमपि आवश्यकम्। ऋग्वेदे उद्घोषितः - '**सुते नियच्छ तन्वम्।**'[३३] तस्य परमात्मनः प्रसादोऽपि आवश्यकोऽपरिहार्यश्च। विना तेन न किंचिद् प्राप्तुं शक्नुमः वयम्। कठोपनिषदि ऋषिणोक्तम्- '**तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।**'[३४] बृहदारण्यकोपनिषदि एकमाख्यानं वर्तते। यदा महर्षिः याज्ञवल्क्यः संन्यासार्थं गच्छति स्वाश्रमात्। तदा स मैत्रेयीमभिवदति - एतद्धनं तव भागम्। भागंश्रुत्वा साऽभिवदति - '**यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्। स्यान्न्वहं तेनामृता।**'[३५] धनधान्येन पूर्णा इयं सर्वा पृथिवी यदि ममैव भवेत् तर्हि किमहं अमृता स्याम। प्रत्युत्तरयति महर्षिः याज्ञवल्क्यः- '**नेति नेति... यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्याद् अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन।**'[३६] वित्तेन न काचित् सम्भावना अमृतत्वस्य मोक्षस्य तर्हि किं करणीयं मया हे प्रभो! ब्रूहि माम्। मैत्रेयी याज्ञवल्क्यं प्रति ब्रूते - '**येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।**'[३७] मुण्डकोपनिषदि ऋषिणोक्तम् '**तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथामृतस्यैष सेतुः।**[३८]' ऋषिर्जानाति अमृतस्य सेतुः येन अमृता स्याम। तमात्मानमेकं जानथ, अन्या सर्वा वाचः विमुंचथ। यतो हि '**गोस्तु मात्रा न विद्यते**'। शुद्धे एकान्ते शान्ते अभीष्टे देशे शुद्धान्तःकरणः समाहितो भूत्वा दशेन्द्रियाणि

---

[३२] सांख्यदर्शनम् - ६/२५

[३३] ऋग्वेदः - ३/५१/११

[३४] कठोपनिषद् - १/२/२०

[३५] बृहदारण्यकोपनिषद् - ४/५/३

[३६] बृहदारण्यकोपनिषद् - ४/५/३

[३७] बृहदारण्यकोपनिषद् - ४/५/४

[३८] मुण्डकोपनिषद् - २/२/५

मनश्चैकाग्रीकृत्य अन्तर्यामिणं न्यायकारिणं परमात्मनमनुभूय तस्य चिन्तनं कृत्वा स्वकीयमात्मानं तस्मिन् नियोज्य सम्यक्प्रकारेण तस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाकरणेन स्वात्मानं तस्मिन् नियोजयेत्। महर्षिणा पतञ्जलिना योगशास्त्रेऽभिहितमुपासनायोगः। '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'[३९] चित्तवृत्तीनां दुश्चिन्तनादपवार्य परमात्मसमीपं कृत्वा नियोजनमेव योगः। महर्षिणा दयानन्देन लिखितम् '**परमेश्वरादतिरिक्तविषयादधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति।**'[४०] चित्त्वृत्तिनिरोधेन द्रष्टुः जीवात्मनः स्वरूपेऽवस्थानम्- **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**'[४१] स्वरूपावस्थानविषये ऋषिवरदयानन्देन लिखितम् - जीवात्मनः परमात्मनश्च स्वरूपेऽवस्थानम् स्वकीये रूपे अवस्थानं चेति। वृत्तयः कथं निरोद्धव्याः? महर्षिपतञ्जलिनोक्तम् '**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**'[४२] उपासनायोगेनाभिध्यानमात्रेण तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवतीति। ईश्वरमसमर्पणमेव परमसाधनं येन आसन्नतमः समाधिलाभो भवति।'

उपासनायोगस्य अष्टावङ्गानि सन्ति-यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा- ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि। '**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**'।[४३] महर्षिदयानन्देन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां लिखितम्- एषामुपासनायोगाङ्.गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति, ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति।[४४] यावन्मुक्तिर्न भवेत् तावत् योगांगानां पालनमपरिहार्यमेव। योगाङ्गानुष्ठानादेव अशुद्धे

---

[३९] योगदर्शनम् - १/१

[४०] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - उपासनाविषयः

[४१] योगदर्शनम् १/३

[४२] योगदर्शनम् १/२३

[४३] योगदर्शनम् १/२८

[४४] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - उपासनाविषयः

अज्ञानस्य क्षयणं भवेत् नान्यथा।

एवमुपासनायोगः परमेश्वरस्य साहचर्यम्। सर्वत्रानुभूतिः परब्रह्मणः। परमेश्वरस्य पवित्रशुभगुणकर्मस्वभावैरिवात्मनो गुणकर्मस्वभावानामपि पवित्रीकरणं, परमेश्वरं सर्वव्यापकं स्वात्मानं च व्याप्यं विज्ञाय, ईश्वरस्य स्वात्मनः सामीप्यमात्मनश्चेश्वरसामीप्यमनुभूय योगाभ्यासेनास्या अनुभूतेरेव साक्षात्करणम् उपासनेति अभिधीयते। उपासनाविषये ऋषिवरेण लिखितं यदुपासना सर्वैश्वश्यमेव कार्या, सा अपरिहार्या। सत्यार्थप्रकाशस्य नवमसमुल्लासे लिखितमृषिवरेण- '**नित्यप्रति न्यून से न्यून दो घण्टा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हो।**' महर्षिदयानन्दः सत्यार्थप्रकाशे[४५] उपासनाया फलमुल्लिखति - '**जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष, दुःख, छूट कर परमेश्वर के गुणकर्मस्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हो जाते हैं।**' अतः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनावश्यमेव अनुष्ठेयाः। उपासनाया फलमन्यदुदाहृतमत्र महर्षिणा[४६] - उपासनया आत्मनो बलं तावत् प्रवर्धिष्यते येन पर्वत इव महादुःखोऽपि नोद्विजिष्यते सर्वं च सहिष्यते। यो वै परमात्मनः स्तुतिप्रार्थनोपासना नैव करोति स तु कृतघ्नो महामूर्खश्च भवति। अत एव क्लिष्टाक्लिष्टवृत्तीनां अभ्यासवैराग्याभ्यां निरोधः कर्तव्यः। ईश्वरप्रणिधानेन तज्जपस्तदर्थभावेन च प्रत्यक्चेतनाधिगम अन्तरायाभावश्च भवति। प्रत्यक्चेतनाधिगमार्थम् अन्तरायाभावार्थं च एकतत्त्वस्य परब्रह्मणः अभ्यासः कर्तव्यः। निर्विचारसमाधिना

---

[४५] सत्यार्थप्रकाशः - सप्तसमुल्लासः

[४६] सत्यार्थप्रकाशः - सप्तसमुल्लासः

अध्यात्मप्रसादं लब्ध्वा निर्बीजसमाधिः प्राप्तव्यः।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रब्रवीमि-ओमित्येतत्।'[४७]

परब्रह्मणः प्राप्त्यर्थमेव सर्वे वेदाः तपांसि च निर्दिशन्ति। वेदानां परमोऽर्थो अयमेव वेदितव्यः। ऋषिवरेणदयानन्देनाभिहितम्[४८]- '**एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति। 'तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्व उपदेशाः सन्ति इति।**'

[४७] कठोपनिषद्

[४८] दयानन्दभाष्य - यजु. ८/३६

विश्वकल्याणकारिणीः वैदिक-दाम्पत्य-जीवन-पद्धति

डॉ. जगमोहन[1]

जिस प्रकार सभी योनियों में मनुष्य जीवन को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। **नरत्वं दुर्लभं लोके**[2] कहकर नर-तन की प्राप्ति को अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है। उसी प्रकार वैदिक जीवन पद्धति विश्व की सर्वश्रेष्ठ एवं प्रथम संस्कृति है। जैसा कि वेद में स्वयं घोषणा की गयी है कि - **सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा**[3]।

इस पद्धति का विकास ही जीव मात्र के कल्याण को ध्यान में रखकर हुआ है। **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**[4] यह वेद का वचन स्वयं इस बात का प्रमाण है कि यह विश्व एक परिवार में ही समाया हुआ है।

यह अत्यन्त स्वाभाविक तथ्य है कि जब व्यक्ति का चिन्तन किसी देश, जाति, धर्म, प्रजाति या विशिष्ट समाज को लेकर किया जाता

---

[1] **संस्कृत - विभाग, हिन्दू महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय**

[2] अग्निपुराण

[3] यजुर्वेद ७.१४

[4] यजुर्वेद ३२.८

है तो निश्चित रूप से उसका चिन्तन एकाङ्गिक दृष्टिकोण से युक्त होने के कारण दोषों से रहित नहीं हो सकता है, अपितु उसके चिन्तन में दोषों की संभावना अधिक बढ़ जाती है।

वैदिक संस्कृति जोकि ऋषियों की संस्कृति है, उसका दृष्टिकोण ही सर्वव्यापक एवं सार्वभौमिक है। जो इस संस्कृति को वैश्विक संस्कृतियों के मध्य उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करता है।

सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की भावना निहित होने के कारण इस पद्धति में जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जिसके विषय में हमें ऋषियों का मार्गदर्शन प्राप्त नहीं होता है। यह ज्ञान एवं विवेक पर आधारित पद्धति है। कर्म-व्यवस्था इस पद्धति का प्राण है। कर्मों के कारण ही व्यक्ति सुख-दुःख को न केवल इस जीवन में, अपितु अपनी जन्म-जन्मान्तरों की मोक्षपर्यन्त की यात्रा में प्राप्त करता है। गृहस्थ जीवन इस सांसारिक चक्र की मुख्य धुरी है। किसी न किसी रूप में सभी आश्रम इसी गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं। जैसा कि आचार्य मनु कहते हैं-

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥[५]

पुनरपि आज सबसे अधिक समस्याओं का सामना मनुष्य इसी जीवन में ही करता हुआ दिखाई पड़ रहा है। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि कहीं न कहीं इसमें विकृतियाँ आ गयी हैं। समाज ने वैदिक सिद्धान्तों को भुला दिया है। जिसके कारण आज गृहस्थ जीवन को नकारने की प्रवृत्ति युवाओं में बढ़ने लगी है। वैदिक पद्धति को अपनाकर इन समस्याओं का समाधान सहज रूप में किया जा सकता है। ऐसे तो गृहस्थ जीवन का

[५] मनुस्मृति ३.७७

स्वरूप बहुत व्यापक है, किन्तु इस बृहद् यज्ञ की आधारशिला की दम्पती हैं। दाम्पत्य जीवन जितना सरल, सरस, सुखद एवं गुणवान होगा उस पर निर्मित भवन भी उतना ही सुदृढ़ एवं गुणकारी होगा। क्योंकि सम्पूर्ण गृहस्थ जीवन का चक्र दम्पती के इर्द-गिर्द घूमता है। यहां पर इस लेख में वैदिक दाम्पत्य जीवन को वर्णित करने का प्रयास किया गया है।

वैदिक पद्धति किसी भी कार्य के लिए अधिकारी को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान करती है। अतः गृहस्थ में प्रवेश करने की आज्ञा वेद में सभी को नहीं दी गयी है।

वेद में कहा गया हैकि ब्रह्मचर्य से युक्त स्त्री एवं पुरुष ही दम्पती बनने के अधिकारी हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में जिन्होंने देह और इंद्रियों को पुष्ट किया है। मानसिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा को प्राप्त किया है। वे ही दांपत्य जीवन में प्रवेश करने के अधिकारी हैं। यथा-

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भव्त्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पति:सोमेन नीतां जुहुं न देवाः॥[६]

बिना एक वेद को समाप्त किए ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थ आश्रम में जाने का अधिकार नहीं है। मनु महाराज ने भी दंपती बनने के लिए इन्हीं दो शर्तों का वर्णन किया है- कम से कम एक वेद का अध्ययन एवं अविलुप्त ब्रह्मचर्य। यथा-

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रमाविशेत्॥[७]

दाम्पत्य भाव का प्रयोजन क्या है? व्यापक दृष्टिकोण से विचार

---

[६]अथर्ववेद ५.१७.५

[७]मनुस्मृति ३.२

करने पर इसके अनेक प्रयोजन हो सकते हैं, परंतु वैदिक पद्धति के अनुसार इसका मुख्य प्रयोजन संतानोत्पत्ति है। अतः यदि संतान-उत्पत्ति की इच्छा न हो तो व्यक्ति को दांपत्य भाव को प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यथा-

यं परिहस्तमविभरतदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति॥[८]

वेद शिक्षा देता है कि स्त्री एवं पुरुष को दाम्पत्य सम्बंध को ईश्वर-कृत मानना चाहिए। जब किसी भी वस्तु को ईश्वर प्रदत्त या ईश्वर-कृत की दृष्टि से देखा जाता है तो उसके प्रति सम्मान एवं प्रेम का भाव स्वाभाविक रूप से बढ़ने लगता है। अतः वैदिक पद्धति पति-पत्नी को एक दूसरे के प्रति ईश्वर-कृत सम्बंधी के रूप में देखने के लिए प्रेरित करती है। इस संबंध को श्रेष्ठ बनाने का के लिए प्रयास करने हेतु प्रेरित है। यह भाव वर्तमान दाम्पत्य जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है। वेद का यह आदेश इस संबंध को अटूट एवं सुदृढ बनाता है। जहां किसी भी प्रकार के विच्छेद का स्थान नहीं है। वेद का मन्त्र कहता है-

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादात् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावती सं जीव शरदः शतम्॥[९]

आजकल दाम्पत्य जीवन की एक नयी समस्या का बड़ा बोल बाला है। भारत के उच्चतम न्यायालय में भी इस विषय में विचार-विमर्श हो चुका है। वह समस्या है (मेरिटल रेप) जिसे वैवाहिक बलात्कार का नाम

[८] अथर्ववेद ६.८१.३
[९] अथर्ववेद १४.१.५२

दिया जा रहा है। ऋषियों की दृष्टि से कुछ भी छिपा नहीं था। वे जानते थे कि यौन संबंधों के समय कई बार मनुष्य निर्मर्यादित हो सकता है। अतः वेद बहुत ही कड़े शब्दों में कहता हैं कि कहता है कि यौनाचार के समय पुरुष या स्त्री किसी भी प्रकार से मर्यादा का अतिक्रमण न करें अपितु एक दूसरे का सम्मान करते हुए एक दूसरे का सहारा एवं सम्बल बने। यथा-

परिहस्त विधारय योनिं गर्भाय धातवे।
मर्यादे पुत्रमादेहि तं त्वमागमयागमे॥[१०]

वेद में कहा गया है कि दम्पती अपनी इच्छा के अनुसार अपने संतानों की उत्पत्ति कर सकते हैं। यदि वे गर्भाधान के समय अपने चित्त में श्रेष्ठ भाव को जागृत करें तो संतान भी अवश्य श्रेष्ठ होगी। स्वेच्छा अनुसार पुत्र एवं पुत्री को पैदा करना भी दंपती के अपने हाथों में है। यह दाम्पत्य जीवन इतना अधिक महत्त्वपूर्ण एवं जिम्मेदारी से परिपूर्ण कर्म है कि इस कार्य के महत्त्व का बोध कराने के लिए वैदिक पद्धति एक बृहद् संस्कार का विधान करती है जिसे विवाह संस्कार के नाम से जाना जाता है। इस विवाह में एक बड़े समुदाय के समक्ष ईश्वर को साक्षी मानकर एक दूसरे के प्रति मन, कर्म एवं वचन से समर्पित किया जाता है।

यथा-

ओं समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुद्देष्ट्री दधातु नौ॥[११]

जहां स्त्री एवं पुरुष इस दायित्व का वहन करने के लिए प्रतिज्ञा

[१०]अथर्ववेद ६.८१.२

[११]ऋग्वेद १०.८५.४७

करते हैं, वहीं पर वे सभी का आशीर्वाद भी प्राप्त करते हैं। यथा-

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं वि परेतन॥[१२]

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक घूमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते हैं। वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। यथा-

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥[१३]

अतः हमें अच्छे दम्पती बनने एवं बनाने की दिशा में प्रयास करना होगा। जब दंपतियों का जीवन पवित्र एवं आदर्श होगा तो अन्य सभी आश्रम भी स्वत: व्यवस्थित हो जायेगें। जिससे समाज में सुख एवं समृद्धि की वृद्धि होकर समाज का महान उपकार होगा। अतः वैदिक दाम्पत्य-पद्धति में ही सम्पूर्ण विश्व का कल्याण निहित है, इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता है।

---

[१२] अथर्ववेद १४.२.२८

[१३] मनुस्मृति ६.९०

यजुर्वेद में विश्वबन्धुत्व की अवधारणा

डॉ. सत्यकेतु[१]

मनुष्यमात्र के धर्मों एवं कर्त्तव्यों का मूल वेद हैं[२]। धर्मशास्त्रकारों में धुरीण, मानवजाति को धर्मानुशासन में दीक्षित करने वाले महर्षि मनु ने सम्पूर्ण ज्ञान की सत्ता का आदिस्रोत वेद को माना है[३]। मीमांसा दर्शन में वेदों का लक्षण करते हुए कहा है कि- उन (मन्त्रों) में जिनकी अर्थवशात् पादव्यवस्था है वे ऋक् हैं, जो गाये जाते हैं वे साम हैं शेष बचे हुए का नाम यजु है[४]। उक्त लक्षणों में यजुर्वेद के लिये पारिश्शेष्य न्याय से लक्षण निर्दिष्ट है। शब्दकल्पद्रुम में शेष को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि-

शेषे ऋक्सामभिन्ने मन्त्रजाते ततश्च यन्मन्त्रजातं प्रश्लिष्य पठितं गानादिविच्छेदरहितं तत् यजुरिति[५]

---

[१] **सहायक आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ वि.वि., लखनऊ।**

[२] वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु० २/६

[३] चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वाराश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति। मनु. १२-९७

[४] तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्य। शेषे यजुः शब्दः। मीमांसा- ०२/०१/३५, ३६, ३७

[५] यजुस् शब्द पर शब्दकल्पद्रुम कोष में,

अर्थात् ऐसा मन्त्रसमूह जो ऋक् और साम के (पद्य तथा गानात्मक) मन्त्रों से भिन्न (गद्यात्मक) है, वह यजुस् है। शतपथ ब्राह्मण एवं मनुस्मृति में यजुर्वेद का आविर्भाव वायु (महर्षि) से बतलाया गया है[६]। वायु का सम्बन्ध गति से है। यजुर्वेद का विषय कर्मकाण्ड है। कर्म में गतिमत्ता होती है जहाँ गतिमत्ता होती है वहाँ कर्ममयता बनी रहती है। शतपथ ब्राह्मणकार यजुस् का निर्वचन यज् धातु के साथ-साथ गत्यर्थक 'इ' धातु तथा वेगार्थक 'जू' धातु से भी करते हैं[७]। **एतीति यज्, यच्च जूः च यजुस्** अर्थात् यजुर्वेद गति एवं वेग का प्रतीक है। संसरणशील संसार में जीवन हेतु गति एवं वेगपूर्णता के साधनों का उपदेश ही यजुर्वेद है।

संसाररूपी नाट्यशाला के लिए अभिनय का पाठ यजुर्वेद से ही प्राप्त हुआ है[८]। यजुर्वेद में उदात्त सांस्कृतिक भावों की अभिव्यक्ति पदे-पदे दृष्टिगत होती है। ऋषियों ने कर्मकाण्ड का उपदेश करते हुए इस वेद में निरन्तर संस्कृति एवं संस्कार का आधान किया है। संस्कृति शब्द का शाब्दिक अर्थ है परिष्कृत स्थिति। वास्तव में संस्कृति अमूर्त्त है। किसी समाज विशेष की उन्नत वैचारिक दशा का नाम संस्कृति है। इस सम्प्रत्यय को समझने के लिये महाभाष्य में पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट क्रिया की परिभाषा को देखा जा सकता है। वहाँ कहा गया है कि "क्रिया क्या है? ईहा। ईहा क्या है? चेष्टा। चेष्टा क्या है? व्यापार। अरे आप शब्दों से ही शब्दों को बता रहे हैं कोई वस्तु समूह का निर्देश नहीं करते कि इस प्रकार की क्रिया होती है।" तब समाधान देते हुए कहा गया है कि "क्रिया का

---

[६] वायोर्यजुर्वेदः। शतपथ ब्राह्मण, अग्निवायुरविभ्यस्तु., मनु. १/२

[७] शतपथ ब्राह्मण- १०/०३/०५/१-२

[८] यजुर्वेदादभिनयान्। नाट्यशास्त्र १/१७-१८

स्वरूप एक साथ किसी पदार्थ की भाँति नहीं दिखाया जा सकता। यह सर्वथा अनुमानगम्य है[९]।" इसी प्रकार संस्कृति का स्वरूप भी हस्तामलकवत् दिखाया नहीं जा सकता है। संस्कृति का भी अनुमान ही किया जा सकता है। वस्तुतः किसी समाज में व्याप्त गुणों का नाम संस्कृति है।

यजुर्वेद जीवन जीने की उत्तम विधि की ओर निर्देश करता है[१०]। मन्त्रों में बहुधा उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रयोग सामाजिक सहभागिता की ओर संकेत करता है[११]। ऋग्वेद में मनुष्य को '**मनुर्भव**[१२]' का सूत्र दिया है- मनुष्य तू मनुष्य बन अर्थात् मननशील बन जा। यास्कीय निर्वचन भी इस बात की पुष्टि करता है **मननात् मनुष्यः**। मननशील चिन्तनशील मनुष्य ही एक विचारवान् समाज के निर्माण में सहकार कर सकते हैं। समाज के अभाव में मनुष्य का जीवन निर्वाह असम्भव है। यह न केवल मनुष्य अपितु प्राणिमात्र का स्वभाव है। चींटि, दीमक, मधुमख्खी आदि अतिक्षुद्र प्राणियों से लेकर सिंह, हाथी, गौ, बकरी आदि बड़े पशु एवं शुक, कपोत, क्रौञ्चादि पक्षी सभी समूह में विकसित होते हैं। परमात्मा की सृष्टि में व्याप्त इस सामाजिकता से बुद्धिमान् मनुष्य दूर कैसे रह सकता है ज्ञान, विज्ञान, कला, कौशल एवं सभ्यता तथा संस्कृति का विकास सामाजिकता के आधार पर ही अवलंबित है। सामाजिक

---

[९] का पुनः क्रिया? ईहा... साऽसावनुमानगम्या। महाभाष्य अ. १/ पा. ३/ सूत्र १

[१०] कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजुर्वेद- ४०-०२

[११] यद्भद्रं तन्न आसुवः, धियो यो नः, वयं स्याम पतयो रयीणाम्, अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्, योगक्षेमो नः कल्पताम्, इन सभी मन्त्रों में बहुवचन के सर्वनामों तथा क्रियापदों का प्रयोग है।

[१२] ऋग्वेद १०/५३/०६

भावनाएँ जहां जितनी ज्यादा उन्नत अवस्था में होंगी उतना ही उन्नत विकसित जीवन होगा। इसी जीवन के निरंतर प्रवाह में सभ्यता एवं संस्कृति का विकास होता है।

यजुर्वेद में विश्ववरणीय संस्कृति के मूल सूत्र बारम्बार प्रतिपादित हुए हैं। कश्यप ऋषि घोषणा कर रहे हैं कि विद्या, धन, ऐश्वर्य का दान दूसरों को करना श्रेष्ठ है, हे सौम्य! गुण युक्त, हे सर्व ऐश्वर्य के केंद्र परमात्मन्! आपने इस सृष्टि में जो विविध ऐश्वर्य भर रखा है उस ऐश्वर्य, विद्या, धन एवं कल्याणकारी वस्तुओं को हम सब को बाँटें। सभी इस के अधिकारी हैं। यही भावना सर्वप्रथम सब को मित्र बनाने की हैं। श्रेष्ठ बनाने की हैं। सबको जीवन तथा गति देने वाली है। यही सर्वप्रथम, श्रेष्ठ, अग्रणी संस्कृति है जिसे वेद ने विश्व को, सभी को वरणीय बताया है। वस्तुतः परमात्मा द्वारा वेद वर्णित संस्कृति ही संस्कृति है। अन्य तो लौकिक कृतियाँ है-

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः॥[१३]

संस्कृति वह मूल विचार है जिसकी भित्ति पर सभ्यता का बाह्य वातावरण एवं व्यवहार अङ्कित होता है। सभ्यता में देश, काल, परिस्थिति एवं आवश्यकतावशात् त्वरित परिवर्तन होते रहते हैं। संस्कृति का स्वरूप नामक निबंध में वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने लिखा है कि "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वाङ्ग पूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढङ्ग हमारी संस्कृति है... संस्कृति के रूपों का उत्तराधिकार भी

[१३] यजुर्वेद- ०७/१४

हमारे साथ चलता है। धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला उसी के अङ्ग हैं[१४]।

यजुर्वेद में सब के प्रति कल्याण की भावना को विशिष्ट महत्व दिया गया है। जिसके अभाव में एक आदर्श समाज की संरचना संभव नहीं है- **पुमान्पुमान्सं परि पातु विश्वतः**[१५] अर्थात् मनुष्य मनुष्य की सब प्रकार से, सब ओर से, सभी साधनों से, प्रीति के साथ रक्षा करें। इन्हीं उदात्त भावों को और पुष्ट करने हेतु प्रकारान्तर से कहा गया है कि पुरुष की हिंसा मत कर। यह रक्षणीय है, यह पालनीय है- **मा हिंसीः पुरुषं जगत्**[१६]**।** मनुष्य संसार में श्रेष्ठ प्राणी है "**न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**"[१७]।

यजुर्वैदिक परमेष्ठी ऋषि ने इसी उच्च विचार को अग्रसर करते हुए समस्त जगत् के कल्याण, प्रसन्नता एवं आरोग्य संपन्न होने की प्रार्थना की है-

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्[१८] ॥

अर्थात् हे! समस्त प्राणियों की वाणियों को जानने वाले परमेश्वर! मङ्गलमय वचनों द्वारा हम आपसे बड़ी नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं कि आप ऐसी कृपा कीजिए जिससे सम्पूर्ण जगत् नीरोग एवं शुद्ध मन वाला होवे। सुमन के विपरीत कुमन वाले लोग ही अशांतिपूर्ण अपसंस्कृति के प्रसारक होते हैं। यजुर्वेद में बारम्बार मन के शिव संकल्पवान् बनाने की

---

[१४] कल्पवृक्ष- वासुदेवशरण अग्रवाल पृ. ३०

[१५] यजुर्वेद- २९/५१

[१६] यजुर्वेद- १६/०३

[१७] महाभारत- शान्तिपर्व, २९९/२०

[१८] यजुर्वेद- १६/०४

कामना दोहराई गई है- **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**[१९]।

दुष्ट भावों के परित्याग की प्रार्थना है- **दुर्मतिं जहि**[२०] अर्थात् कुबुद्धि, कुविचार को दूर कर। प्राणिमात्र के दुरित, दुःख दूर हों और जो कुछ इस संसार में कल्याणकारी गुण, कर्म एवं स्वभाव हैं वे हमें प्राप्त हों[२१]। सद्गुणों को जीवन में धारण करना एवं दुर्गुणों का परित्याग करना वैदिक संस्कृति की मूल पहचान है। व्रतों को धारण करने से ही ऐसा संभव हो सकता है। व्रत नाम नियमित संकल्पित सदाचरण का है। यजुर्वेद का ऋषि प्रार्थना करता है कि- **व्रतं कृणुत**[२२] व्रत करो। किस को साक्षी मानकर व्रत धारण करें तो यह यजुर्वेद का ऋषि परमात्मा के अग्नि स्वरूप को स्मरण करते हुए प्रार्थना करता है- हे व्रतों के पालन एवं रक्षणकर्ता! जिस प्रकार आप अंधकार को दूर कर सत्य का प्रकाश करते हो इसी प्रकार मैं भी अज्ञान असत्य के अंधकार को दूर कर सत्य का प्रकाश करूं। अनृत त्याग कर सत्य को धारण करुं[२३]। व्रत-विहीन की संस्कृति नष्ट हो जाती है। सर्वोदयी, सर्वहितकारी भावनाएं नाम को रह जाती हैं। स्वार्थ का साम्राज्य बढ़ जाता है। जैसा कि साम्प्रतिक राष्ट्र में, विश्व में भी देखा जा सकता है। असत्य, अविश्वास, छल, कपट, कूटनीति, भ्रष्टाचार, कलह, अशांति, आतंक, लूट-पाट एवं युद्ध की विभीषिकायें चरम पर हैं। व्यक्ति के चरित्र सुधार की कदम-ताल से

---

[१९] यजुर्वेद- ३४/१-६

[२०] यजुर्वेद- ११/४७

[२१] विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव। यजुर्वेद- ३०/०३

[२२] यजुर्वेद- ०४/११

[२३] अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। यजुर्वेद- ०१/०५

निश्चित रूप से उपर्युक्त दोषों का परिहार संभव है। यजुर्वेद के मेधातिथि ऋषि उद्घोष कर रहे हैं- **चरित्राँस्ते शुन्धामि**[२४] अर्थात् हे शिष्य! तेरे को शुद्ध करता हूँ।

अकर्मण्यता सामाजिक अभिशाप है। निरुद्यमी आलसी समाज अमरबेल की भांति परजीवी बन जाता है। परिणामस्वरूप संसाधनों की लूट-खसोट आरम्भ हो जाती है। वैदिक ऋषि ऐसे अकर्मण्य जीवन की निंदा तथा कर्मशीलता की प्रशंसा करते हैं। लोभवृत्ति का साक्षात् निषेध किया गया है- **मा गृधः** अर्थात् लोभ मत कर[२५]। यजुर्वेद का ऋषि सभी प्राणियों के प्रति मित्रतापूर्ण व्यवहार का उपदेश करता है[२६]। इसका समर्थन अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है- **सर्वा आशा मम मित्रम् भवन्तु,** सभी दिशाओं में मेरे मित्र ही मित्र हों[२७]। इसी प्रकार समाज से कुटिलता का नाश करने हेतु कहा गया है- **मा अहिर्भूः** अर्थात् सांप के समान कुटिल चाल वाला मत बन[२८]। उन्नति का आकांक्षी व्यक्ति अभिमान से, गर्व से दूर रहे- **व्यृद्ध्या अपगल्भम्**[२९]। परिश्रम का फल अद्भुत होता है- **सहस्रपुत्रो अद्भुतः**[३०]। वेद दीनता रहित धन ऐश्वर्यों से परिपूर्ण जीवन की कामना करता है- **अदीनाः स्याम**[३१], **वयं स्याम पतयो रयीणाम्**[३२],

---

[२४] यजुर्वेद- ६/१३

[२५] यजुर्वेद- ४०/१-२

[२६] यजुर्वेद- ३६/१८

[२७] अथर्ववेद- १९/१५/०६

[२८] यजुर्वेद- ०६/१२

[२९] यजुर्वेद- ३०/१७

[३०] यजुर्वेद- ११/७०

[३१] यजुर्वेद- ३६/२४

भगवन्तः स्याम[३३] आदि यजुर्वेदीय मंत्र इसी भाव के पोषक हैं।

इस प्रकार के समस्त सांस्कृतिक अवयवभूत भावों की अभिव्यक्ति वैदिक ऋषि यज्ञ के अवसर पर देखता है। यज्ञ से विद्वानों की, देवों की पूजा के साथ-साथ संगतिकरण और दान की उच्च भावना का विकास होता है। अत एव संभवत: नाना गुणों एवं पदार्थों की कामना यजुर्वैदिक ऋषि यज्ञ से ही कल्पित करता है- **बलं च मे यज्ञेन कल्पताम्। वित्तं च मे यज्ञेन कल्पताम्। अन्नं च मे यज्ञेन कल्पताम्**[३४]। यजुर्वेद के संपूर्ण अठारहवें अध्याय में यज्ञ के माध्यम से ही तत्तद् गुणों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यजुर्वेद में प्रतिपादित संस्कृति के गुण सूत्रों पर, उपदेशों पर आचरण कर न केवल भारत अपितु विश्व समाज भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक उन्नति का पथगामी बन सकता है। व्यक्तिगत उन्नति के साथ समष्टिगत उन्नति करता हुआ एक सांस्कृतिक रुप से एकीकृत विश्व का निर्माण सम्भव हो सकता है। आवश्यकता है वेद के निहितार्थ को जन-जन तक पहुँचाने की एवं उसको आत्मसात् करने की। इसी में सम्पूर्ण मानवता का कल्याण निहित है॥

[३२] यजुर्वेद- २३/६४

[३३] यजुर्वेद- ३४/३८

[३४] यजुर्वेद- १८/२, १०, ११

ईशावास्योपनिषदि वैदिकजीवनपद्धतिः

डॉ. सुनेली देई[१]

ईशावास्योपनिषदः परिचयः

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्[२] इति वेदस्य लक्षणानुसारं मन्त्रब्राह्मणात्मकशब्दराशिः वेदः भवति। मन्त्रभागः संहितारूपेण ख्यातः। ब्राह्मणभागः ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्भेदेन त्रिधा विभज्यते। एवंरूपेण ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यानां चतुर्णां वेदानां संहिताभागः ब्राह्मणभागः आरण्यकभागः उपनिषद्-भागश्च दृश्यन्ते। एतेषां ग्रन्थानामध्ययनेन वयं वैदिकार्याणाम् आदर्शजीवनपद्धतिविषये ज्ञातुं शक्नुमः।

शुक्लयजुर्वेदस्य चत्वारिंशदध्यायो भवति ईशावास्योपनिषद्। अस्यामुपनिषदि अष्टादश मन्त्राः सन्ति। यद्यपि उपनिषदियं परिमाणदृष्ट्या लघुः भवति, तथापि गुणात्मकमानदृष्ट्या अस्याः स्थानं दशप्रमुखासु उपनिषत्सु प्रथममस्ति। ईशावास्योपनिषद्-ग्रन्थस्याध्ययनेन वैदिकयुगस्य याः जीवनपद्धतयः परिलक्ष्यन्ते, ताः क्रमेण उपस्थाप्यन्ते--

वैदिकशान्तिमयी जीवनपद्धतिः

सर्वासु उपनिषत्सु विद्यमानः शान्तिमन्त्रः वैदिकार्याः शान्तिप्रियाः

[१] **सहायिका आचार्या, संस्कृतविभागः, गङ्गाधरमेहेरविश्वविद्यालयः, सम्बलपुरम्, ओडिशा**

[२] आपस्तम्बपरिभाषा-१/३३

भवन्तीति सूचयति।

ईशावास्योपनिषद्यपि त्रिविधदुःखस्य प्रशमनार्थं प्रारम्भे शान्तिमन्त्रः दृश्यते। तथा हि-

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अर्थात्, कारणात्मकं ब्रह्म पूर्णं भवति, कार्यात्मकं ब्रह्म अपि पूर्णं भवति। सृष्टिसमये कारणात्मकब्रह्मणः कार्यब्रह्म उत्पद्यते। प्रलयसमये तत् कार्यब्रह्म पुनः कारणात्मकब्रह्मणि निलीयते। फलतः ब्रह्म एव अवशिष्यते।

शान्तिमन्त्रेऽस्मिन् सूच्यते यत् मनुष्यसमेताः सर्वे जीवाः तस्य परंब्रह्मणः अंशविशेषाः भवन्ति। जीवशरीरे विद्यमानः जीवात्मा परंब्रह्मणः अंशविशेषत्वात् अक्षयः भवति, परन्तु जीवस्य शरीरं क्षयशीलं भवति।[३] अतः मन्त्रोऽयं परोक्षभावेन एतदुपदिशति यत् संसारेऽस्मिन् कोऽपि मनुष्यः अमरः न भवति। अपि च संसारोऽयं आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिकभेदैः त्रिविधदुःखैः परिपूर्णः। एतेषां त्रिविधदुःखानां प्रशमनार्थं त्रिवारं शान्तिपाठः क्रियतेऽत्र।

अस्याम् ईशावास्योपनिषदि तथा सर्वासु उपनिषत्सु प्रयुक्तैः त्रिवारं शान्तिपाठैः सर्वेषां मनुष्याणां सुखशान्तिकामना वैदिकार्याणां सुखशान्तिमयजीवनपद्धतेः पूर्णपरिचयं प्रददाति।

वैदिकत्यागमयी जीवनपद्धतिः

वैदिकार्याणां त्यागपूतजीवनपद्धतिः वास्तवतः प्रशंसनीया। निम्नोक्तमन्त्रोऽयमस्य ज्वलन्तः दृष्टान्तः। तथा हि --

---

[३] श्रीमद्भगवद्गीता- १५/७

ओं ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥[४]

अस्मिन् संसारे यत् किञ्चित् दृश्यते, तत्सर्वं परंब्रह्मणा सृष्टत्वात् परंब्रह्माधीनं वर्त्तते। परंब्रह्म यस्मै यत्परिमितं धनं ददाति, स तत्परिमितं धनं भुञ्जीत। परंब्रह्मणा प्रदत्तम् अतिरिच्य अन्यस्य कस्यचित् धनं प्रति लोभः न करणीयः। अपि तु स्वसमीपे यत् धनमस्ति, तद्धनस्योपर्यपि परंब्रह्मणः आधिपत्यं वर्त्तते। अतः स्वधनं मत्वा गर्वः न करणीयः। तस्य धनस्य त्यागेन भोगः करणीयः। अर्थात्, पद्मपत्रे अम्बु यथा वर्त्तते, तथैव संसारे मनुष्यः सांसारिकविषयवस्तु अनासक्तः सन् भुञ्जीत। प्रायशः मनुष्येण आसक्तिवशतः नानाप्रकारकमनिष्टकरकार्यकरणस्य दृष्टान्तः दृश्यते। किमपि वस्तु प्रति यदि तस्य लोभः न स्यात्, तर्हि सः यत्किमपि वस्तु त्यक्तुं कुण्ठितः न भवेत्। अतः त्यागेन भोगकरणेन लोभरहितः मनुष्यः आसन्नविपदः उद्धरिष्यति। यदुच्यते- लोभः पापस्य कारणम्।

वैदिककर्ममयी जीवनपद्धतिः

वैदिकयुगस्य कर्मप्रधानां जीवनशैलीं सूचयित्वा मन्त्रोऽयं कथयति-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥[५]

अर्थात् अस्मिन् परिदृश्यमाने संसारे अनेन प्रकारेण अग्निहोत्रादीनि सत्कर्माणि संपादयन् मनुष्यः शतं वर्षं जीवितुमिच्छेत्। कर्मानुष्ठानातिरिक्तं मनुष्यस्य काऽपि अपरा गतिः नास्ति। यतो हि कर्मभूमिरियं वसुन्धरा। एवं कृते सति मनुष्यः कर्मणा न बध्यते।

[४] ईशावास्योपनिषद्- १

[५] तत्रैव-२

यथासमये यथाकर्मकरणेन मनुष्यः कर्मभारेण भाराक्रान्तः न भविष्यतीत्यर्थः।

वैदिकात्मज्ञानमयी जीवनपद्धतिः

सर्वासामुपनिषदां मुख्यप्रतिपाद्यविषयः भवति आत्मनः स्वरूपोद्घाटनम्। ईशावास्योप- निषद्यपि आत्मविषये सम्यक्तया उक्तमस्ति। अयमात्मा अचलः, एकः, मनसोऽपि तीव्रगतियुक्तः, इन्द्रियागोचरश्च भवति।[६] अयमात्मा स्थूलशरीररहितः, अक्षतः, स्नायुरहितः, शुद्धः, पापरहितः, क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञः, परिभूः, स्वयम्भूः शाश्वतश्चास्ति।[७] एषः आत्मा परमात्मत्वेन स्थिरः भवति, परन्तु जीवात्मत्वेन गतिशीलः भवति। आत्मा एकस्मात् शरीरात् अन्यस्मिन् शरीरे प्रवेशकारणात् गतिशीलः भवति। शरीरे आत्मनः अवस्थानात् जीवः क्रियाशीलः भवति, सर्वं कर्म कर्त्तुं समर्थो भवति। पुनश्च अयमात्मा प्राणवायुरूपेण जीवशरीरमाश्रित्य कर्मणां विभागीकरणं करोति। अयमात्मा त्रिगुणात्मकेन जीवात्मारूपेण अस्मादृशानां जीवानां शरीरमाश्रित्य विद्यमानत्वादस्माकमन्तिके शरीरमध्ये तिष्ठति। अपि च अयमात्मा निर्गुणात्मकेन परमात्मरूपेण संसारात् बहिरपि वर्त्तते। तथा चोक्तमत्र-

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥[८]

अज्ञानान्धकारेण आवृताः मूढजनाः एवम्भूतस्य आत्मनः स्वरूपम्

---

[६] तत्रैव-४

[७] तत्रैव-८

[८] ईशावास्योपनिषद्- ५

अज्ञात्वा आत्मानं नित्यं हिंसन्ति। एतादृशाः आत्महनः जनाः मरणादनन्तरम् असूर्या नाम तान् अन्धकारमयलोकान् प्रतिगच्छन्ति।[९]

अतः मरणादनन्तरम् आत्मघाती सन् अन्धकारमयलोकं न गच्छामः, तदर्थं वैदिकार्यऋषिः सत्यस्वरूपस्य ब्रह्मणः दर्शनार्थं पूषन्देवं प्रार्थयते।[१०]

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति[११] इति श्रुतिवचनात् ज्ञायते यत् यः आत्मनः स्वरूपं ज्ञातवान्, सः स्वयं आत्मस्वरूपोऽभवत्। अतः उपर्युक्ते मन्त्रे वैदिकार्यऋषिः आत्मनः स्वरूपज्ञानपूर्वकम् आत्मनः साक्षात्कारं कृत्वा आत्मनि लीनं भवितुं पूषन्देवं प्रार्थयते।

अस्याः उपनिषदः शान्तिमन्त्रेऽपि तथा कथ्यते यत् सृष्टिकाले परमात्मनः अंशः जीवात्मा जीवशरीरमाश्रयति, विनाशकाले (मृत्युकाले) जीवात्मा जीवस्य स्थूलशरीरात् निर्गत्य परमात्मनि लीयते।

वैदिकविश्वबन्धुत्वात्मिका जीवनपद्धतिः

विश्वबन्धुत्वस्य वार्त्तां प्रददाति इयम् ईशावास्योपनिषद्। तथा हि-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥[१२]

अर्थात्, यः सर्वेषु प्राणिषु स्वकीयम् आत्मानं पश्यति, अपि च स्वस्य आत्मनि सर्वभूतं (सर्वप्राणिनम्) पश्यति, सः कस्मात् न विजुगुप्सते।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वनुपश्यतः॥[१३]

---

[९] तत्रैव- ३

[१०] तत्रैव- १५

[११] मुण्डकोपनिषद्-३.२.९

[१२] ईशावास्योपनिषद्- ६

[१३] तत्रैव-७

यस्मिन् समये मनुष्यस्य एतद्ज्ञानमभवत् यत् सर्वे प्राणिनः परमात्मनः अंशविशेषा भवन्ति, तस्मिन् समये तस्य अयं निजः अयं परो वेति भेदभावः तिरोहितो भवति। परमात्मनः अंशत्वात् स सर्वत्र समभावं पश्यति। तस्य सर्वे स्वात्मीयाः इति उपलब्धिः भवति। एवंरूपेण आत्मानुशीलनं कुर्वन्तः जनाः कस्मै न क्रुध्यन्ति, न द्रुह्यन्ति, नापि असूयन्ति। अस्मिन् संसारे वासं कुर्वन्तः सर्वे जनाः अनित्याः। अतः कस्मिन् अनुरागवशतः मोहभावः न पोषणीयः, न च कस्यचित् आत्मीयस्वजनस्य वियोगेन शोकभावः करणीयः।

अत एव यः आत्मनः स्वरूपं ज्ञात्वा स्वस्य स्थितिविषये अवगतः भविष्यति, सः कदापि केनापि सह हिंसा-ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-निन्दा-कलहादीन् न करिष्यति।

वैदिकमोक्षमयी जीवनपद्धतिः

वेदस्य संहिताभागः ब्रह्मचारिणां कृते उपयोगी, ब्राह्मणभागः गृहस्थानां कृते उपयोगी, आरण्यकभागः वानप्रस्थिनां कृते उपयोगी, उपनिषद्भागः सन्न्यासिनां कृते उपयोगी च। उपनिषदः ब्रह्मबोधिकाः मोक्षसाधनस्वरूपाश्च सन्ति। ईशावास्योपनिषदि आत्मज्ञानेन सह विद्या-अविद्याज्ञानेन सम्भूति-असम्भूतिज्ञानेन च मोक्षप्राप्तिः भविष्यतीति वर्ण्यते। आत्मनः स्वरूपविषये पूर्वमेव उक्तम्।

विद्या-अविद्ययोः विषयेऽत्र वर्ण्यते यत् ये जनाः केवलम् अविद्याम् (वेदस्य कर्मकाण्डसम्बद्धं यज्ञकर्म) उपासते, ते प्रगाढान्धकारमध्ये प्रविशन्ति, ये जनाः केवलम् विद्याम् (वेदस्य ज्ञानकाण्डसम्बद्धम् आत्मज्ञानम्) उपासते, ते ततोऽपि प्रगाढान्धकारमध्ये प्रविशन्ति। विद्या-अविद्ययोः उभयोः फलं भिन्नं भिन्नं भवति। विद्यायाः फलं भवति मोक्षलाभः, अविद्यायाः फलं भवति स्वर्गलाभः। यः जनः विद्याऽविद्ये

उभये जानाति, सः अविद्यया मृत्युमतिक्रम्य विद्यया अमृतत्वं लभते। अतः न केवलं विद्यायाः उपासना करणीया, न च अविद्यायाः उपासना करणीया। तस्मात् ऐहिकसंसारदुःखात् मुक्तिं प्राप्तुमिच्छतः पारलौकिकसुखं कामयितुः मोक्षलाभेच्छुकजनस्य उभयोः विद्याऽविद्ययोः उपासना करणीया। तथा हि-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥[१४]

असम्भूति-सम्भूत्योः विषयेऽत्र वर्ण्यते यत् ये जनाः केवलम् अदर्शनात्मिकामव्याकृताख्यां कारणब्रह्माख्याम् अव्यक्ताम् असम्भूतिम् उपासते, ते प्रगाढान्धकारमध्ये प्रविशन्ति। ये जनाः केवलं व्याकृताख्यां व्यक्तां हिरण्यगर्भाख्यां कार्यब्रह्मभूतां सम्भूतिमुपासते, ते ततोऽपि प्रगाढान्धकारमध्ये प्रविशन्ति। असम्भूत्याख्यकार्यब्रह्मणः उपासनायाः फलं भवति अणिमादि-ऐश्वर्यलाभः, सम्भूत्याख्य- कारणब्रह्मणः उपासनायाः फलं भवति ब्रह्मसाक्षात्काररूपः मोक्षलाभः। अतः ये जनाः उभयोः सम्भूति- असम्भूत्योः उपासनां कुर्वन्ति, ते असम्भूत्या अनैश्वर्यम्-अधर्मकामादिदोषजातं मृत्युमतिक्रम्य सम्भूत्या (अव्याकृतोपासनया) अमृतं (प्रकृतिलयभूतं मोक्षं) प्राप्नुवन्ति। तथा चोक्तम् --

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥[१५]

वैदिकसंस्कारात्मिका जीवनपद्धतिः

ईशावास्योपनिषदः अन्तिमे मन्त्रचतुष्टये मरणोन्मुखस्य

---

[१४] ईशावास्योपनिषद्- ११

[१५] तत्रैव-१४

कर्मनिष्ठोपासकस्य प्रार्थना दृश्यते।

अन्तकाले आत्मप्राप्त्यर्थं मरणोन्मुखः जनः आदित्यमण्डलस्थस्य सत्यस्वरूपस्य ब्रह्मणः साक्षात्कारं कर्त्तुमिच्छति। अतोऽत्र वेदान्तकारः पूषन्देवं स्तुतिपूर्वकं कथयति--

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[१६]

अर्थात्, सुवर्णमयपात्रेण आदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणः मुखम् आच्छादितमस्ति। तस्मात् हे पूषन्! त्वं सत्यस्वरूपस्य ब्रह्मणः साक्षात्काराभिलाषिणां सत्यधर्मणाम् अस्माकं कृते तदावरणरूपं पात्रमुद्घाटय, येन वयं सत्यात्मनः उपलब्धिं कुर्या।

अपि च- **पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।**[१७]

अर्थात्, जगतः पोषणात् हे पूषन्! एक एव समग्रजगतः रक्षणात् गमनात् हे एकर्षे! सर्वेषां प्राणिनां संयमनाद् हे यम! रश्मीनां प्राणानां सीकरणात् हे सूर्य हे प्रजापतेः नन्दन प्राजापत्य! त्वं स्वान् तापकान् रश्मीन् अपहाय स्वकल्याणमयरूपं माम् प्रदर्शय। येन अहं कल्याणमयरूपं द्रष्टुं पारयामि।

पुनश्चात्र शेषसमये मरणोन्मुखोपासकः अतीतस्य कृतकर्मणः स्मरणार्थमुपदिश्यते-

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥[१८]

अर्थात् अथेदानीं मम मरिष्यतः स्थूलशरीरं सर्वात्मकं वायुरूपं

---

[१६] तत्रैव-१५

[१७] तत्रैव-१६

[१८] तत्रैव-१७

सूत्रात्मकं प्राप्नोतु। हे सङ्कल्पात्मक मनः! सम्प्रति त्वं अतीतस्य कृतकार्यं (शुभमशुभं वा, पुण्यं पापं वा) सम्यक्तया स्मर। यदि त्वया उत्तमकर्म कृतम्, तर्हि तव अयमात्मा भस्मान्तशरीरस्य परित्यागसमये अनुशोचनां न करिष्यति। अन्यथा शरीरात् आत्मप्रस्थानकाले समीचीनकर्म-अकरणात् दुःखमनुभविष्यति।

अतः अन्ते वेदान्तकारः कामयते—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥[१९]

अर्थात्, हे अग्निदेव! अस्मान् सन्मार्गेण नय। धनाय कर्मफलभोगाय अस्मभ्यं यथोक्तकर्मफलविशिष्टानि सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रदेहि। हे देव! त्वं सर्वेषां ज्ञानानां कर्मणाञ्च ज्ञाता असि। तस्मात् त्वम् अस्माकं मोक्षमार्गस्य प्रतिबन्धकं सृजन्ति यानि पापानि, तानि पापानि विनाशय। ततःपरं हि वयं पापमुक्ताः विशुद्धाः सन्तः अभीष्टं प्राप्स्यामः। तदर्थं वयं भूयोभूयः भक्तियुक्तां प्रणतिं तुभ्यम् ज्ञापयामः।

वैदिकार्यऋषिभिः अग्निदेवमुद्दिश्य एतादृशी प्रार्थना वैदिकार्याणां सत्कर्माभिमुखितां तथा सत्कर्मफलाभिलाषितां सुष्ठु प्रमाणयति।

यः जनः आजीवनं उत्तमकर्म कुर्यात्, यः जनः निष्ठया सह स्वकर्त्तव्यं सम्पन्नं कुर्यात्, सः अन्तःकाले स्वस्य अतीतकालस्य सुकर्म स्मृत्वा आनन्देन मृत्युवरणं करिष्यति। अपि च अन्तःकाले मुमुक्षुः जनः परमात्मनि स्वमनोनिवेशं कुर्यात्।

उपसंहारः

वैदिकजीवनपद्धतिः सर्वोत्कृष्टा साम्प्रतिकजीवनपद्धतेः मार्गदर्शिकार्हा च भवति। सर्वासु दिक्षु इयं वैदिकजीवनपद्धतिः सर्वोत्तमा अनुकरणीया

---

[१९] ईशावास्योपनिषद्- १८

च। इयं वैदिकजीवनपद्धतिः महनीयायाः विश्ववन्दनीयायाः भारतीयसंस्कृतेः आधारभूता। वैदिकार्याणां शान्तिमयी त्यागपूतजीवनपद्धतिः वास्तवतः प्रशंसनीया। अस्यामुपनिषदि प्रतिपादितेयं वैदिकजीवनपद्धतिः शतवर्षकालं सत्कर्मभिः प्राप्तैः धनैः सुखशान्तिभिः सह जीवनधारणपूर्वकं परलोकार्थं यज्ञाननुष्ठीय मोक्षलाभार्थमात्मनः स्वरूपं ज्ञातुं प्रेरयति। वस्तुतः वैदिकार्याः सदुपायैः उपार्जितं धनं भोक्तुमिष्टवन्तः। कर्मभूमिरियं वसुन्धरा, न तु भोगभूमिः इति इमां वार्त्तां वैदिकजीवनपद्धतिरेव ददाति। इयं कल्याणकारिणी वैदिकजीवनपद्धतिः एकस्मिन् सुस्थ-सुन्दर-शृङ्खलितसमाजगठने पूर्णतः समर्था भवति। ईदृशी जीवनपद्धतिः साम्प्रतिकसमाजे प्रायशः दुर्लभा। त्यागस्योपादेयता, सत्कर्मणः सुफलता, विद्याविद्ययोः सम्भूत्यसम्भूत्योश्च प्रासङ्गिकता, सर्वभूतेषु मित्रता चेत्यादयः विषयाः आदर्शवैदिकजीवनपद्धतेः पूर्णपरिचयं प्रददति। संक्षेपेण मनुष्येण सत्कर्मणा इहलोके शतवर्षं यावत् सुखशान्तिलाभपूर्वकमवस्थापनम्, अविद्यया स्वर्गलाभः, विद्यया च मोक्षलाभश्च क्रियन्ते इति विषये उपनिषदियं समुपदिशति।

विश्वकल्याणकारिण्याः वैदिकजीवनपद्धतेरनुसरणेन हि विश्वशान्तिः प्रतिष्ठिता भवेत्। तदर्थं स्वामिना दयानन्दसरस्वतीमहाभागेन सुष्ठूक्तम-वेदं प्रत्यावर्त्तय प्रत्यागच्छत वा। अत एव एतद् वक्तुं शक्यते यत् इयं महनीया वैदिकजीवनपद्धतिः नेत्रीस्थानीया सती साम्प्रतिक भारतीयजीवनपद्धतिं तथा विश्ववासिनां जीवनपद्धतिं परिचालयितुं सम्यग् मार्गदर्शनं करिष्यत्येव।

वेदों में प्रतिपादित एकेश्वरवाद : एक अध्ययन

डॉ. रवि प्रभात[१]

भारतीय संस्कृति का मूल वेदों में निहित है। भारतीय जनमानस वेदों को ज्ञान के आदि स्रोत के रूप में स्वीकार करता है। जीवन के सभी क्रियाकलाप एवं गतिविधियां वेदानुकूल हों ऐसी चेष्टा भी रहती है।

सृष्टि के आदिम काल में जिस प्रकार का उदात्त एवं उत्कृष्ट चिन्तन वेदों में प्राप्त होता है, वह निश्चित रूप से सम्मोह जनक है। इस कारण से प्रत्येक काल में वेदों में निहित ज्ञान के प्रति एक विशिष्ट जिज्ञासा बनी रही है तथा आदि काल से ही वेदों को लेकर शोध का चिरन्तन प्रवाह अद्यावधि बना हुआ है।

अनेक गूढ़ रहस्यों का आकर वेद सभी के लिए बोधगम्य नहीं है, अतः उन्हें समझने के लिये जनसामान्य को व्याख्याओं पर आश्रित रहना पड़ता है। यदा कदा कुछ अपव्याख्याएं भी प्रकाश में आती रहती हैं जिनसे भ्रान्ति की संभावना बनी रहती है।

प्रस्तुत शोधपत्र में वेदों में एकेश्वरवाद की अवधारणा का

[१] **सहायक प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक**

प्रतिपादन किया गया है अथवा अनेकेश्वरवाद की स्थापना की गई है, इसको सप्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

वेदों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है अथवा अनेकेश्वेवाद का? इस विषय पर अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने विमर्श किया है। मैक्समूलर समेत कुछ भारतीय विचारों ने प्रबल तरीके से इस मत की स्थापना की है कि वेदों में अनेकेश्वरवाद अथवा बहुदेववाद ही सैद्धान्तिक रूप में मान्य है।

आर.सी. मजूमदार अपनी **वैदिक एज** नामक पुस्तक में पाश्चात्य विद्वानों का अनुसरण करते हुये अति आत्मविश्वास के साथ वेदों में बहुदेववाद विषयक मान्यता की स्थापना करते हुये कहते हैं कि प्रायः मान लिया गया है कि ऋग्वेद का धर्म प्रधानतया मूल रूप में बहुदेवतावादी अथवा अनेकेश्वरवादी है, जो अन्त में कुछ थोड़े से सूक्तों में अद्वैतवाद का रङ्ग पकड लेता है। तो भी आशातीत रूप से कुछ सूक्तों में गम्भीर दार्शनिक चर्चा छिड़ जाती है, जो उस लम्बी यात्रा का स्मरण कराती है, जो आरम्भिक असभ्य अनेकेश्वेवाद के क्रमबद्ध तत्त्वज्ञान की ओर प्राकृतिक बहुदेवतावाद और अद्वैतवाद की मंजिलों से गुजरते हुये की गई।[२] मैक्समूलर ने वेदों में अनेकेश्वरवाद को स्थापित करने के लिये एक नया शब्द कल्पित किया 'हीनोथीइज्म' (Hinothiesm)।

---

[२]It has been generally held that the Rigvada religian is essentitally poly-theistic one, Taking on a panthiestic colouring only in a few of its latest hymns. Yet a deeply abstrad philosophising crops up unexpectedly in some hymns as a reminder of the long journey made from primitive polythiesm to systematic philosophy through the stages of naturalistic polytheism, monotheism and monism. *Vedic age, Pg. ३८*

मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'Anicient sanskrit literature' में इसका उल्लेख किया है।

मैक्समूलर का मन्तव्य है कि वेदों के अध्ययन के दौरान यह दृष्टिगोचर होता है कि जब भी कोई वैदिक ऋषि किसी सूक्त-विशेष में किसी देवता की स्तुति करने लगता है तो वह उसी देव को सर्वोत्कृष्ट बताने का प्रयास करता है। वेदों के अनेक सूक्तों में यह प्रवृत्ति सुगमता से देखी जा सकती है। प्रत्येक देवता को अलग-अलग अवसर पर सबसे ऊँचा व पूर्ण बतलाया गया है।

मैक्समूलर ने उदारण के लिये कतिपय सूक्तों का भी निर्देश किया है जैसे ऋग्वेद के द्वितीय मंडल के प्रथम सूक्त में 'अग्नि' को सब मनुष्यों का बुद्धिमान् राजा, संसार का स्वामी और शासक, मनुष्यों का पिता, भाई, पुत्र तथा मित्र कहा है। इसी प्रकार एक प्रकार एक स्थान पर इन्द्र को सबसे अधिक शक्तिशाली माना गया है। सोम को भी सबसे महान्, सबका विजेता, संसार का स्वामी बतलाया गया है तथा अग्नि, सूर्य, इन्द्र, विष्णु आदि सभी को पैदा करने वाला कहा गया है। उससे अगले ही सूक्त में वरुण देवता को सर्वशक्तिमान् कहा गया है।[३]

इसे परिभाषित करने के लिये मैक्समूलर ने 'हीनोथीइज्म़' शब्द की कल्पना की है। जिसका अभिप्राय है कि अनेक देवों में से प्रत्येक को ही उस समय जबकि उसकी स्तुति की जा रही है, ऋषि उस देवता को सबसे बड़ा, स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिमान् समझता है। मैक्समूलर यहाँ पर

---

[३]Each vedic poet seems to exalt the participation god whom he happens to be singing to a position of sepermacy. It would be easy to find, in the numerous hymns of the veda. *Ancient sanskrit literature, by Maxmuller, Pg. ३५३-३५५*

शब्दान्तर से अनेकेश्वरवाद का ही समर्थन करते दिखते हैं।

क्या वास्तविकता में वैदिक ऋषियों का मन्तव्य बहुदेवतावाद अथवा अनेकेश्वरवाद ही था जैसा कि उपर्युक्त विद्वानों ने स्थापित किया है अथवा ऋषियों के मत के विपरीत कहीं किसी भ्रान्ति में अथवा पूर्वाग्रह में इस मत की स्थापना की गई है। इसका सर्वाङ्गीण विवेचन आवश्यक है। निरपेक्ष रूप से जब वैदिक ऋचाओं पर दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्टतया ज्ञात होता है कि पृथक् देवताओं का स्थान-स्थान पर निर्देश होने पर भी देवाधिदेव, सब देवों के अधिष्ठाता के रूप में एक परमपिता परमात्मा की स्तुति का ही विधान पाया जाता है।

इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, वायु, सूर्य, सविता आदि प्रधानतया उस परमेश्वर के ही भिन्न-भिन्न गुणों को ज्ञापित करने वाले नाम हैं।

इस बात को पुष्ट करने के लिये एक अत्यन्त प्रसिद्ध ऋचा को यहाँ पर उद्धृत करना प्रासंगिक होगा-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥[४]

प्रस्तुत मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में यह प्रतिपादित किया गया है कि (एकं सत्) एक सत्स्वरूप (सदा एक रस रहने वाला निर्विकार) परमेश्वर को (विप्राः) बुद्धिमान ज्ञानी लोग (बहुधा वदन्ति) अनेक प्रकारों से,अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं। उसी को अग्नि, यम, मातरिश्वा, इन्द्र, मित्र वरुण आदि नामों से पुकारते हैं।

ये सभी नाम परमेश्वर के गुणों को स्मरण कराने वाले हैं। उदाहरण की दृष्टि से 'इन्द्र' नाम परमैश्वर्य सम्पन्न होने का, मित्र उसके सबका स्नेही

[४] ऋग्वेद,१/१६४/४६

मित्र होने का, वरुण सर्वोत्तम और अज्ञानान्धकार निवारक होने का, अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप और अग्रणी अथवा नेता होने का स्मरण कराता है।

प्रस्तुत मन्त्र से यह तो पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि विश्व के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद में एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वथा असन्दिग्ध है।

यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान् अर्नेष्ट वुड ने भी उक्त मन्त्र पर एक विशेष टिप्पणी देते हुये कहा है कि ऋग्वेद में बहुत पहले यह स्थापित कर दिया गया था कि ईश्वर एक ही है।[५]

इस सन्दर्भ में कुछ अन्य मन्त्र भी द्रष्टव्य हैं जिनमें स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है-

य एक इत्तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः। पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः।[६]

अर्थात् जो परमेश्वर (एकः इत्) एक ही है, हे मनुष्य! (तमु स्तुहि) तू उसी की स्तुति कर, वह परमेश्वर (कृष्टीनाम्) सब मनुष्यों का (विचर्षणिः) सब कुछ भलीभांति देखने वाल सर्वज्ञ है। वही (वृषक्रतुः) सुखपूर्वक ज्ञान और कर्मवाला (पतिः जज्ञे) सारे जगत् का स्वामी है।

ऋग्वेद में एक स्थल पर एकमात्र ईश्वर की ही स्तुति का विधान करते हुये अन्यों की स्तुति का स्पष्ट निषेध किया है तथा उसे दुःख का कारण बतलाया है-

---

[५] In the eyes of hindus, there is but one Supreme god. This was stated long ago in Rigveda in the following words - "Ekam Sad Vipra Bahudha Vadanti" which may be translated, The sages name the one being variously. An Englishman defends mother india, *by Ernest wood, Pg. १२८*

[६] ऋग्वेद - ६/४५/१६

मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत।

इन्द्रमित्स्तोता वृष्णं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसता॥[७]

अर्थात् हे मित्रों! अन्य किसी की विशेष स्तुति अथवा पूजा न करो, अन्यों की पूजा करके दुःख मत उठाओ, यज्ञादि में भी उस एक परमेश्वर की ही स्तुति करो। यहां पर बडे स्पष्ट शब्दों में 'इन्द्रमित् स्तोता' अर्थात् एक ही परमेश्वर की स्तुति करो यह निर्देश दिया गया है। इससे स्पष्ट शब्दों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन क्या होगा? अगर इस प्रकार के स्पष्ट उदाहरणों के बाद भी कतिपय लोग वेदों में बहुदेववाद का प्रतिपादन व्याख्यायित करते हैं तो यह निश्चित रूप से पक्षपातपूर्ण अथवा अज्ञानजन्य ही माना जायेगा।

इस अवसर पर एक अन्य ऋचा को उद्धृत करना भी प्रासंगिक होगा, जिसमें परमेश्वर को एक तथादेवों के सब नामों को धारण करने वाला कहा है-

यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या। [८]

अर्थात् जो परमेश्वर हमारा पालक है, उत्पादक है, जो विशेष रूप से हमारा धारण करने हारा है और जो सब स्थानों, लोकों और पदार्थों को जानना है, जो सब देवों इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि के नाम को प्रधानतया धारण करने वाला एक ही देव है, उस अच्छी प्रकार से जानने योग्य परमेश्वर की ओर ही अन्य सब लोग और प्राणी गति कर रहे हैं। यहां पर परमेश्वर को पालक, उत्पादक, पिता, सर्वज्ञ आदि बतलाते हुये स्पष्ट रूप से कहा है कि परमात्मा एक ही है, जिसके अनेक नाम हैं।

---

[७] वही - ८/१ /१

[८] वही १०/८२/३

अग्नि, इन्द्र, रुद्र, मित्र, वरुण आदि। ये सारे नाम उस परमात्मा के ही हैं। इससे स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद की स्थापना और कैसे की जा सकेगी।

ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में भी 'कः' अथवा सुखस्वरूप प्रजापति के नाम से परमात्मा का स्मरण करते हुये उसी की श्रद्धाभक्तिपूर्वक उपासना का विधान किया गया है। इस सूक्त में चार बार परमेश्वर के लिये 'एकः' शब्द का प्रयोग हुआ और उसे ही देवाधिदेव परमात्मा तथा पूजनीय बतलाया गया है-

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[९]

हिरण्यगर्भ सूक्त में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है। इस बात को मैक्समूलर समेत अन्य पाश्चात्य विद्वान् भी दबे कंठ से स्वीकार करते हैं। मैक्समूलर ने कहा कि इस सूक्त में एक ईश्वर का विचार इतनी प्रबलता और निश्चय के साथ प्रकट किया गया है कि हमें आर्यों के नैसर्गिक एकेश्वरवादी होने से अस्वीकार करते हुये अत्यधिक संकोच करना पडेगा।[१०] यद्यपि मैक्समूलर के इन शब्दों से स्पष्ट है कि वो भी वेदों में प्रतिपादित एकेश्वरवाद को इन सब प्रमाणों के आधार पर नकारने की स्थिति में नहीं थे परन्तु कतिपय पूर्वाग्रहों के कारण से ऋग्वेद के दशम मंडल के परवर्ती होने की निराधार कल्पना भी उनके द्वारा प्रस्तुत की गई है।

---

[९] वही १०/१२१/१

[१०] I add one more hymn (rig. १०/१२१/१) in which the idea of one god is expressed with such power and discussion, that we deny to the aryans an instinctive monotheism. *History of ancient sanskrit literature, by Maxmullere, Pg.* ५७८

हिरण्यगर्भ सूक्त में "कस्मै" शब्द के विषय में भी कुछ पाश्चात्य विद्वान् भ्रमित दिखाई पड़ते हैं तथा वो 'कस्मै' का अर्थ किस देव के लिये इस प्रकार प्रश्नवाचक दिखाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्पष्ट रूप से **'को हि प्रजापतिः' 'प्रजापतिर्वैकः**[११]'इत्यादि वाक्यों में **'कः**' का अर्थ-प्रजापति परमेश्वर ही मानना चाहिये न कि प्रश्नात्मक।

वेदों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हुये अनेक ऋचायें दृष्टिगत होती हैं। परन्तु विस्तारभय से यहां कम उदाहरण ही दर्शाये गये हैं।

अथर्ववेद की अनेक ऋचाओं में भी असन्दिग्ध रूप से इसका प्रतिपादन किया गया है-

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकमृदेक एव।[१२]

यहां पर स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वह परमात्मा एक ही है। वह एक होकर भी सर्वव्यापक और प्राणी-अप्राणी सबको विशेष रूप से पूर्णतया देखने वाला है।

उपर्युक्त उदाहरणों से लेशमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता है कि वेदों में अनेकेश्वरवाद सिद्धान्त की कहीं कोई स्थापना की गई है।

अनेकेश्वरवाद के निराकरण के पश्चात् मैक्समूलर द्वारा स्थापित हीनोथीइज्म की भी समीक्षा करनी आवश्यक है।

हीनोथीइज्म की स्थापना के बाद जब मैक्समूलर ने स्वामी

---

[११] शतपथब्राह्मण- ६/२२/५

[१२] अथर्ववेद १३/४/१६-२०

दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का अध्ययन किया तो इस सम्बन्ध में मैक्समूलर ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि वेदों में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा, प्रजापति इत्यादि शब्दों द्वारा वस्तुतः एक ही ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है कि जो अत्यन्त व निर्विकार है।[१३] मैक्समूलर की इस टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब उन्होंने स्वयं हीनोथीइज्म की स्थापना की थी तो सम्भवतः उनके आरम्भिक विचार रहे हों, जिनमें परिपक्वता का अभाव रहा होगा।

इससे इतर अनेक महत्त्वपूर्ण ऋचाओं में एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि एकेश्वरवाद के अतिरिक्त हीनोथीइज्म जैसी किसी मनगढंत कल्पना का वेदों में कोई स्थान नहीं है।

उदारणार्थ निम्न ऋचायें द्रष्टव्य हैं-

यो देवानां नामधा एक एव।[१४]

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।[१५]

एक एव नमस्यः सुशेवाः।[१६]

---

[१३] Whatever may be the age when the collection of our rigveda samhita was finished, it was before the age, that the conception had been formed that there is but one being, nither male nor female. A being raised high above all the canditions and limitations of personelity and of human nature and neverthless the being that was really meant by all such names of Indra, Agni, Matrishwan and by the name of prajapati lord of creatures. The six systems of philosophy by Maxmuller.

[१४] ऋग्वेद १०/८२/३

[१५] वही १०/११४/५

[१६] अथर्ववेद २/२/२

वेदों के पठन-पाठन के क्रम में अध्येता को यह बात अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिये कि अग्नि, इन्द्र, सोम, वरुण आदि उस परमात्मा के अनन्त गुणों को सूचित करने वाले ही नाम हैं। जब ज्ञान स्वरूप के उसे स्मरण करना हो तो तब अग्नि कहा जाता है, सबके साथ प्रेम व स्नेह द्योतित करने के लिये मित्र, न्यायकारिता सूचित करने के लिये अर्यमा, ज्ञान का अधिपतित्व दर्शाने के लिये ब्रह्मणस्पति आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। ऋग्वेद की एक ही ऋचा में सोम को औषधी, वनस्पति, जल, गौ, उत्तम बुद्धि का प्रदाता, व आकाश, पृथ्वी, अग्नि, सूर्य, वायु आदि का उत्पादक भी बतलाया है।[१७]

अब विचारणीय है कि एक औषधी 'सोम' किस प्रकार से अग्नि, सूर्य, आकाश, पृथ्वी आदि का उत्पत्तिकर्ता हो सकता है? इसलिये यहां पर यही स्वीकारना होगा कि सोम शब्द शक्ति के स्रोत परमात्मा का ही वाचक है और उसी के गुणों का यह वर्णन है। इस समझ के आधार पर मैक्समूलर की हीनोथीइज्म की भ्रान्ति का भी सरलता से निराकरण हो जाता है, जिसे वो अलग-अलग देवता को अलग-अलग समय पर सर्वशक्तिमान् समझने की भूल कर बैठे।

वैदिक एकेश्वरवाद तथा मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों के मतों की समीक्षा करने के पश्चात् अन्त में श्री अरविन्द को उद्धृत करना अत्यन्त प्रासंगिक होगा, जिन्होंने मैक्समूलर के हीनोथीइज्म के सिद्धान्त की प्रखर आलोचना की है तथा वेदों में प्रतिपादित एकेश्वरवाद विषयक मत का पूर्णतः समर्थन किया है। अरविन्द कहते हैं वेदों की व्याख्या की सफलता अथवा असफलता इस बात पर निर्भर है कि उसके वेद प्रतिपादित धर्म

---

[१७] त्वमिमाओषधी:

की केन्द्रीय भावना क्या है कि व वेदों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण उस भावना की कहां तक पुष्टि करते हैं।

अरविन्द के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचार अखण्डनीय हैं तथा उनका आधार दृढ एवं स्थिर है। वेदों की ऋचाओं में एक ही परमदेव का अनेक नामों द्वारा कथन किया गया है तथा उसके गुणों एवं शक्तियों का वर्णन किया गया है। उस एक ही परमेश्वर को तत्वदर्शी ऋषि इन्द्र, अग्नि, मातरिश्वा, वरुण, सोम आदि नामों से पुकारते हैं। श्री अरविन्द की दृष्टि में पाश्चात्य विद्वान् राँथ अथवा मैक्समूलर से बेहतर वेदों की समझ भारतीय ऋषियों की रही है। यह स्वीकारने में संकोच नहीं होना चाहिये। अरविन्द के अनुसार वेदों में प्रतिपादित एकेश्वरवाद को न मानकर, उसे तोड़-मरोड़ कर अलग-अलग नाम दे देना यह पाश्चात्य विद्वानों का पूर्वाग्रहपूर्ण व्यवहार है, क्योंकि एकेश्वरवाद को स्वीकारने से उनका क्रमशः **विकासवाद** का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। पाश्चात्य विद्वान् अकस्मात् यह स्वीकार नहीं कर सकते[१८] कि भारतीय ऋषि आदिम काल से ही एकेश्वरवाद के पोषक थे। एकेश्वरवाद के पक्ष में इतने प्रबल प्रमाणों को पाश्चात्य विद्वानों द्वारा अनदेखा किया जाना कहीं न कहीं श्री अरविन्द की बात को पुष्ट करने का कार्य करता है।

---

[१८] An interpretation of veda must stand on fall by its central conception of the vedic religion of the amount of support given to it by intrinsic evidence of the veda itself. Here Dayananda's view is quite clear………… Who deals most straight forwardly with the text, Dayananda or the western scholars. *Dayananda and the veda by Sri Aurbindo Pg. १७-१८*

वैदिकशिक्षापद्धतेः वैशिष्ट्यविमर्शः

रविकुमारः म. राददडिया[१]

शिक्षा मानवजीवनस्य प्रमुखमङ्गं वर्तते। शिक्षया मनुष्यः सभ्यः संस्कारवान् च भवति। शिक्षयैव वयं सभ्यता-संस्कृति-संस्कार-इतिहासादीनां ज्ञानं प्राप्नुमः। समग्रविश्वस्य प्राचीनशिक्षापद्धतिः "**वैदिकशिक्षापद्धतिः**" एव अस्ति। यदा विश्वे शिक्षानामकं किमपि तत्त्वं नासीत् तदा भारतीयसमाजे वैदिकशिक्षायाः प्रचलनमासीत्। मनुनाऽप्युक्तम्-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥[२]

अस्यां वैदिकशिक्षायां शिष्यः गुरुसान्निध्ये गुरुकुले निवसन् शिक्षां प्राप्नोति स्म। तदानीन्तनशिक्षा न केवलं सामाजिकी आसीत् अपितु अस्त्र-शस्त्र-संगीत-खगोल-ज्योतिष-राजनीतीत्यादीनामपि शिक्षणं भवति स्म।

वैदिककाले शिक्षास्थितिः अत्युत्कृष्टासीत्। तदानीन्तनशिक्षा राज्यप्रशासनापेक्षया स्वतन्त्राचार्यकुलाधीनासीत्। यस्य संचालनस्य

---

[१] **शोधच्छात्रः, गुजरातविश्वविद्यालयः, अहमदाबाद**

[२] मनुस्मृतिः - २.२०

सम्पूर्णदायित्त्वं कुलाधिपतेः आचार्यस्यैवासीत्। किन्तु तत्र राज्य-प्रशासनस्यापि एतद्दायित्त्वमासीत् यत्- विद्यार्थिनः यत्र आश्रमेषु अध्ययनरताः तत्र काऽपि क्षतिः न भवेत्। एतस्याः वैदिकशिक्षायाः षट् घटकतत्त्वानि भवन्ति-

१) शिक्षकः	२) शिक्षार्थी
३) शिक्षाकेन्द्रम्	४) शिक्षाविषयः
५) पितरौ	६) समाजश्च

१) शिक्षकः

महर्षिदयानन्देन शिक्षाप्रदात्रे त्रयः शब्दाः अधिकांशः प्रयुक्ताः -१) आचार्यः, २) गुरुः, ३) उपाध्यायश्च। तत्र यः साङ्गोपाङ्गवेदविद्याध्यापकः, सत्याचारग्राहकः, मिथ्याचारत्यागकारश्च भवति सः **'आचार्यः'**। यः सत्यग्रहणं असत्यत्यागञ्च कारयति सः **'गुरुः'**। पुनश्च यः वेदेकदेशं वेदाङ्गानि वा पाठयति सः **'उपाध्यायः'** इति[३]। आचार्ययास्कः अपि **'आचार्य'** पदं परिभाषयन् वदति - **आचार्यः आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिं वा**[४]। अथर्ववेदे आचार्यशब्दस्य बहुशः प्रयोगः प्राप्यते[५]। अथर्ववेदे आचार्याय **मृत्युः, वरुणः, सोमः, ओषधिः, पयः** इत्यादिशब्दाः अपि उल्लिखिताः[६]।

२) शिक्षार्थी

वैदिककाले शिक्षार्थिनः सामान्याभिधानं **'ब्रह्मचारी'** इति आसीत्।

---

[३] स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः - पृ.सं.-६

[४] निरुक्तम्।

[५] अथर्ववेदः - एकादशकाण्डे पञ्चमसूक्तम्

[६] आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥ अ.वे.- ११.५.१४

ब्रह्मचारिपदस्य प्रथमप्रयोगः ऋग्वेदे प्राप्यते। यस्मिन् मन्त्रे तादृशब्रह्मचारिणः उल्लेखः अस्ति यः विद्याग्रहणाय ब्रह्मज्ञानिनां पुरतः गच्छन् देवानामङ्गमभवत्[७]। छान्दोग्योपनिषदि द्विविधब्रह्मचारिणोः उल्लेखः प्राप्यते। एकस्तु आचार्यकुले स्थित्वा विद्याध्ययनानन्तरं गृहमागच्छति, द्वितीयस्तु आचार्यकुले एव सम्पूर्णजीवनं यापयति[८]। आचार्यकुले ब्रह्मचारिणः प्रथमं नित्यकर्म आसीत्- प्रतिदिनं वनं गत्वा समिधानयनम्। ब्रह्मचारिणः द्वितीयं नित्यकर्म आसीत्- भिक्षाटनम्। भिक्षायामपि ब्रह्मचारी याभ्यः काभ्यः भैक्ष्यं न स्वीकुर्यात्, याः समाजे भूयिष्ठाः प्रसंशनीयाः स्युः ताभ्यः भैक्ष्यं स्वीकुर्यात् अन्यथा आचार्यजायायाः अथवा स्वमातुः सकाशात् भैक्ष्यं स्वीकुर्यात्[९]।

वैदिकशिक्षायाः आदर्शस्वरूपं शिष्याचार्ययोः सम्बन्धाधारितमासीत्। द्वावपि प्रतिदिनं पाठारम्भपूर्वं प्रार्थयतः - **"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै"**[१०]। आचार्यः निष्कपटभावेन शिष्येभ्यः विद्यां प्रयच्छति। शिष्याः अपि एतदेव प्रार्थयन्ति यत् माम्, ममाचार्यञ्च रक्षतु[११]। आचार्याः अपि श्रेष्ठशिष्यप्राप्तये कामयमानाः आसन्। सत्रारम्भे आचार्यैः प्रदीयमानाः आहुतयः तथ्यमेतत्

---

[७] ब्रह्मचारी चरति देविषाद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्। ऋ.वे.- १०.१०९.५

[८] त्रयो धर्मस्य स्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी,
तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। छा.उ.- २.२३.१

[९] स एवं विद्वान् यस्या एव भूयिष्ठं श्लाघेत तां भिक्षेतेत्याहुस्तल्लोक्यमिति, स यद्यन्यां भिक्षितन्यां न विन्देदपि स्वामेवाचार्यजायां भिक्षेताथो स्वां मातरं, नैनं सप्तम्यभिक्षितातीयात्। श.ब्रा- ११.३.३.७

[१०] क. उ. शान्तिपाठः।

[११] तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारम्। तै. उ.- १.१

पुष्टीकुर्वन्ति[१२]।

३) शिक्षाकेन्द्रम्

वैदिककाले शिक्षाकेन्द्राणां कृते **गुरुकुलम्, आश्रमः, आचार्यकुलम्** इत्येतानि नामाभिधानानि आसन्। **यत्र निर्धारितसमयावधौ विधिवत् शिक्षाप्रदानं भवति तान्येव आश्रमगुरुकुलाचार्यकुलानि कथ्यन्ते**। एतानि विद्याकेन्द्राणि नगरात् बहुदूरमरण्येषु विद्यमानानि आसन्। आश्रमस्य अधिष्ठातुः ऋषेः आचार्यस्य वा तत्रैव निवासः भवति स्म। आश्रमे प्रवेशसमये शिष्याणां उपनयनसंस्कारः भवति स्म। उपनयनेन विना कोऽपि शिष्यः शिक्षाग्रहणं कर्तुं न शक्नोति स्म। उपनयनानन्तरं **सामान्यतः २५ वर्षाणि** शिष्यः गुरुकुले पठति स्म। किन्तु गोपथब्राह्मणे उल्लेखः प्राप्यते यत् **४८ वर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं धारयन् शिष्यः १२-१२ वर्षेषु चतुर्णां वेदानामध्ययनं** करोति स्म[१३]। आश्रमे शिक्षासमाप्त्यनन्तरं ब्रह्मचारिणः स्नानं कारयते स्म। तदनन्तरं सः **'स्नातकः'** इति उपाधिना भूषितः सन् समाजोन्नतये कार्याणि करोति स्म।

४) शिक्षाविषयः

वैदिककाले विविधविषयाः पाठ्यन्ते स्म। येषामनुमानं वयं संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्सु उल्लेखितविषयैः कर्तुं शक्नुमः। छान्दोग्योपनिषदि नारदसनत्कुमारसंवादे तत्कालीनशिक्षायाः विविधविषयाणां संकेतः प्राप्यते। अत्र अध्ययनविषयरूपेण **१) ऋग्वेदः,**

---

[१२] आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमयन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। तै.उ.-१.४.२

[१३] तस्मा एतत्प्रोवाचाष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यं, तच्चतुर्धा वेदेषु व्यूह्य द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यं द्वादशवर्षाण्यवरार्द्धमपि स्नायश्चरेत् यथाशक्त्यपरम्। गो.ब्रा.-१.२.५

२) यजुर्वेदः, ३) सामवेदः, ४) अथर्ववेदः, ५) इतिहासः (history), ६) पुराणम् (पुरातत्त्वम्, archaeology), ७) वेदाङ्गानि, ८) पितृविद्या (नृवंशविज्ञानम्, anthropology), ९) राशिविद्या (गणितशास्त्रम्, maths), १०) दैवविद्या (वर्षाविज्ञानादि, meteorology), ११) निधिविद्या (खनिजविद्या, mineralogy), १२) वाकोवाक्य (विधिः तर्कशास्त्रञ्च, law & logic), १३) एकायन (नीतिशास्त्रम्, ethics), १४) देवविद्या (देवशास्त्रम्, mythology), १५) ब्रह्मविद्या (अध्यात्मम्, spiritual science), १६) भूतविद्या (जन्तुशास्त्रम्, zoology), १७) क्षत्रविद्या (शस्त्रविद्या, military science), १८) नक्षत्रविद्या (ज्यौतिषम्, astronomy, १९) सर्पविद्या (विषविज्ञानम्, toxicology), २०) देवजनविद्या (गन्धर्वविद्या, music) च उल्लेखिताः सन्ति[१४]। नारदेन एतासां विद्यानामध्ययनं कृतमासीत्[१५]। एतदतिरिच्य आश्रमेषु लौकिकविद्यानामपि शिक्षा दीयते स्म।

५) पितरौ

वैदिककाले शिक्षाप्रदानकार्यं पित्रा अपि क्रियते स्म[१६]। एतदावश्यकं नासीत् यत् शिक्षार्थी अन्येषां गुरूणां समीपं गत्वैव शिक्षाग्रहणं कुर्यात्। यदि पिता विद्वान् अस्ति तर्हि पितुः समीपं स्थित्वा अपि तत्तद्विषयस्य प्रारम्भिकशिक्षां पुनश्च उच्चशिक्षामपि अध्येतुं शक्नोति स्म। यदि पितुः कस्यचिद्विषये ज्ञानं नास्ति तर्हि पुत्रं तद्विषयज्ञानाय

[१४] वैदिकसाहित्य एवं संस्कृति- पृ.सं.- २६३

[१५] छा. उ.- ७.१.२

[१६] भृगुर्वै वारुणिः पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तै. उ.- ३.१.१

अन्याचार्यस्य समीपं प्रेषयति स्म।

६) समाजः

वैदिककाले शिक्षायाः समुन्नतस्थितेः कारणं तत्कालीनसमाजस्य शिक्षां प्रति उदात्तभावना आसीत्। समाजे आचार्यब्रह्मचारिणौ प्रति सम्मानभावना आसीत्। द्वावपि पूजनीयावास्ताम्। समाजे राजापेक्षया आचार्यब्रह्मचारिणोः सम्माननमधिकमासीत्। राजाऽपि एतौ प्रणमति स्म। कारणं यदस्ति वैदिकशिक्षापद्धतौ आचार्याणां महत्त्वं दृश्यते। अथर्ववेदे तत् प्रतिपादयन् कथितञ्चास्ति यथा –

यस्य राज्ञो जनपदे ह्यथर्वा शान्तिपारगः।
निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्॥
तस्माद्राजा विशेषेण ह्यथर्वाणं जितेन्द्रियम्।
दानसम्मानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्॥[१७]

मन्त्रेणैतेन ज्ञायते यद् यस्य राज्ञः जनपदे शान्तिपारगः अथर्वा निवसति तस्य राष्ट्रं निरुपद्रवं वर्धते नात्र संशयः। तथैव समाजस्योत्तमराज्ञश्च प्रथमं दायित्वं विद्यते वेदविदां जितेन्द्रियाणां निरभिमानिनामाचार्याणां दानसम्मानसत्कारैः सदा पूजनं कुर्यादिति। तस्मात् वैदिकशिक्षापद्धत्या सुराष्ट्रस्य निर्माणमवश्यं भविष्यतीति।

उपसंहारः

वैदिकशिक्षापद्धतिः सर्वप्राचीना सर्वोत्कृष्टा चासीत्। एषा पद्धतिः किमर्थं सर्वोत्कृष्टा इति चेत् - शिक्षायाः उद्देश्यं धनप्राप्तिः न अपितु मोक्षप्राप्तिः आसीत्। शिक्षायां राज्यप्रशासनस्य नियन्त्रणं नासीत् येन शिक्षा पूर्णरूपेण आचार्याणां नियन्त्रणे एव आसीत्। शिक्षायाः किमपि

[१७] अथर्ववेदः – १.३२.३

शुल्कमपि नासीत् येन निर्धनाः छात्राः अपि शिक्षणं प्राप्नुवन्ति स्म। शिक्षायाः पाठ्यविषयाः व्यापकाः आसन् येन छात्राणां शारीरिकः, बौद्धिकः, नैतिकः, सांस्कृतिक, आध्यात्मिकविकासश्च भवति स्म। शिक्षायां उत्तमशिक्षणविधीनां प्रयोगः क्रियते स्म। यथा- अनुकरणम्, व्याख्यानम्, वाद-विवादः, प्रश्नोत्तराणि, तर्कः, अभ्यासः, प्रयोगः, नाटकादि वैज्ञानिकपद्धतीनां प्रयोगः क्रियते स्म।

इति शम्

सहायकग्रन्थसूची -

१. मनुस्मृतिः- स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती, पुस्तक मन्दिर, मथुरा, तृतीयसंस्करणम्, २०१९

२. **स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः** - स्वामिदयानन्दः, वैदिकयन्त्रालयः, अजमेर, तृतीयसंस्करणम्, २०००

३. **निरुक्तम्** - क्षेमराज श्रीकृष्णदासश्रेष्ठी, श्रीवेंकटेश्वर यन्त्रालय, १९६९

४. **अथर्ववेदः** - स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, वेदज्योति प्रेस, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्, २००४

५. **ऋग्वेदसंहिता** - स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, वेदज्योति प्रेस, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्, २००३

६. **एकादशोपनिषद्** - सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, विजयकृष्ण लखनपाल, दिल्ली

७. **शतपथब्राह्मणम्** - डा.बी.बी.चौबे, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्, १९९४

८. **गोपथब्राह्मणभाष्यम्** - आचार्या मेधा देवी & आचार्या प्रज्ञा देवी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, तृतीयसंस्करणम्, १९९३

९. **वैदिक साहित्य एवं संस्कृति** - डा. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सप्तमसंस्करणम्, २०१८

१०. **संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास** - आचार्य बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, द्वितीयसंस्करणम्, २०१२

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अणुवाक्: pavamani86@gmail.com